श्री परमात्मने नमः

सावधान

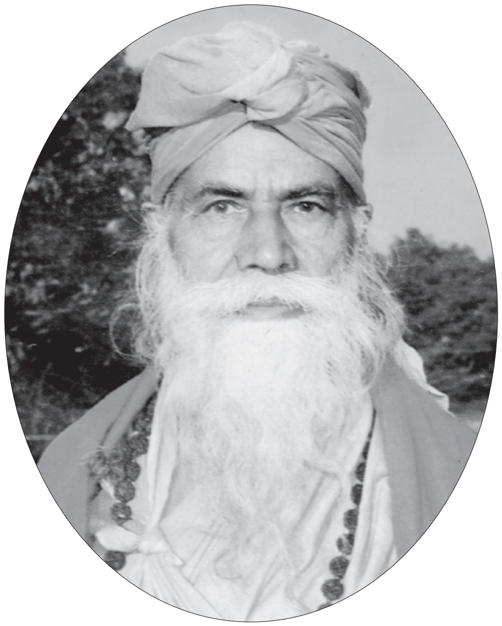

लेखक

साधुवेश में एक पथिक

प्रकाशक

श्री स्वामी पथिक अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति

28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ -226 001

सावधान

लेखक

साधु वेश में एक पथिक

प्रकाशक

श्री स्वामी पथिक

अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति

28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ -226 001

संशोधित संस्करण : मई 2011

लागत मूल्य रु. 25.00

मुद्रक : क्रियेटिव प्वाइंट एफ-25, जयहिन्द काम्प्लेक्स,
बी. एन. रोड, कैसरबाग, लखनऊ फोन : 0522-3012827

अनुक्रम

1.	मेरे प्यारे श्रद्धालु...	1
2.	वृत्ति का न उठना ही निवृत्ति है	5
3.	सावधान (प्रार्थना)	7
4.	देख लिया (प्रार्थना)	8
	सावधान (भाग-1)	
5.	सावधान	9
6.	स्वधर्म विवेक में सावधान	28
7.	दम्भ पाखण्डादि में सावधान	36
8.	गतिदर्शन में सावधान	38
9.	दमन में सावधान	52
10.	हिंसा में सावधान	56
11.	परमार्थ पथ में ... (भजन)	61
12.	कर्तार को कोई क्या जाने... (भजन)	61
13.	दुखों से अगर चोट... (भजन)	62
14.	लिये चलो...... (भजन)	63
15.	यदि समझ सको तो... (भजन)	63
	सावधान (भाग-2)	
16.	प्रार्थना के लिए सावधान	64
17.	निर्भय रहने के लिए सावधान	69
18.	विवेकीजन कहाँ-कहाँ भय रखते हैं	70
19.	कहाँ-कहाँ अभय रहना है	72
20.	सजावट बनावट में सावधान	81
21.	बालकों के हित में सावधान रहो	93
22.	बालकों के संरक्षकों के लिए गुरु निर्देश	102
23.	ममता में सावधान	105
24.	सेवा में सावधान	109
25.	भजन	110
26.	श्रद्धा में सावधान	117
27.	सर्व विघ्न नाशक भगवान (प्रार्थना)	123
28.	यह सच है त्याग प्रेम को ही (भजन)	124

प्रार्थना

हे नाथ अब तो ऐसी दया हो, जीवन निरर्थक जाने न पाये।
यह मन न जाने क्या-क्या दिखाये, कुछ बन न पाया मेरे बनाये।।

संसार में ही आसक्त रहकर, दिन रात अपने मतलब की कह कर।
सुख के लिए लाखों दुःख सहकर, ये दिन अभी तक यों ही बिताये।।

ऐसा जगा दो फिर सो न जाऊँ, अपने को निष्काम प्रेमी बनाऊँ।
मैं आपको चाहूं और पाऊँ, संसार का कुछ भय रह न जाये।।

वह योग्यता दो सत्कर्म कर लूँ, अपने हृदय में सद्भाव भर लूँ।
नर तन है साधन भव सिंध तरलूँ, ऐसा समय फिर आये न आये।।

हे प्रभू हमें निरभिमानी बना दो, दारिद्र हर लो दानी बना दो।
आनन्दमय विज्ञानी बना दो, मैं हूँ 'पथिक' यह आशा लगाये।।

स्तुति

आनन्दरूप परमेश्वर को, ऐ मन तुम बाराम्बार भजो ।
सुख में दुख में हर रंग-ढंग में, छल छोड़ पुकार पुकार भजो।
चाहे तुम सीताराम कहो, या केशव राधेश्याम कहो।
अपनी श्रद्धा रूचि भक्ति सहित, साकार या निरंकार भजो।।
चाहे तुम नमः शिवाय कहो, या नमो वासुदेवाय कहो।
प्रभु परम पिता जगदीश कहो, या सत्य नाम ओंकार भजो।।
वाणी से शुभ गुन गान करो, मन से तुम सुमरिन ध्यान करो।
सब काम ध्यान में लगे हुए, तुम शक्तिमान करतार भजो।।
अखिलेश कहो परमेश कहो, देवेश रमेश महेश कहो।
तुम पथिक रूप में सर्व साक्षी, तत्व विचार-विचार भजो।।

श्री परमात्मने नमः

मेरे प्यारे श्रद्धालु अपने सत्य के प्रेमियों!

बहुत अधिक समय से साधना करते हुये मेरी समझ में आया कि प्रत्येक मनुष्य साधक है। मनुष्य जो कुछ चाहता है वही उसका साध्य है और जिसके द्वारा अपनी चाही हुई वस्तु प्राप्त करता है वही साधन है।

आप सभी साधक हैं, आप पूर्णता चाहते हैं। आनन्द की पूर्णता, शांति की पूर्णता, शक्ति की पूर्णता, ज्ञान की, प्रेम की पूर्णता चाहते हैं, परन्तु भूल यही है भ्रान्ति यही है अज्ञान यही है कि पूर्णता को वहां खोजते हैं जो स्वयं अपूर्ण है।

आप सन्त की गुरु की शरण लेते हैं परन्तु सन्त सद्गुरु तक आपकी दृष्टि नहीं पहुंचती हो, आप सन्त की सिद्धि तथा समाधिक को देखते फिरते हैं पर दर्शन की दृष्टि ही नहीं खुली हो तब आप सन्त स्वरूप को और सन्त समाधि को कैसे देख सकेंगे?

सावधान होकर समझो! सन्त का स्वरूप क्या है? समाधि क्या है? सन्त के दर्शन से सन्त पद प्राप्त हाता है, समाधि के दर्शन से समाधि सुलभ होती है।

समाधि में देखो क्या है? निरन्तर शून्य है अखण्ड शान्ति है नित्य विश्राम है। आंखों से समाधि का वाह्य रूप देखो और स्वयं शून्य में होकर समाधि का अन्तर स्वरूप देखो।

आप जो कुछ देख रहे हैं, देखते-देखते अशान्त हो रहे हैं, थक रहे हैं, आप समाधि को जब देख सकोगे तब शान्त होकर ही देख सकोगे, शून्य होकर ही समाधि का अनुभव कर सकोगे।

समाधि तभी होती है जब देखने वाले के सम्मुख दृश्य नहीं रह जाता है। समाधि महामृत्यु है वहां 'मैं'पना मिट जाता है। वह 'मैं' ही तो जन्म लेता है और मरता है।

इन दो आंखों से जो कुछ दीखता है वह समाधि दर्शन नहीं है। समाधि दर्शन के लिये यह आंखें बन्द करके भीतर की आंख खोलनी होगी।

आपकी आंखों से जो कुछ दीख रहा है, यह सत्य नहीं है। आपने आंखों से देखकर आज तक जो कुछ प्राप्त किया है वह आपके साथ कुछ भी नहीं है, उसकी प्रतीति तो हो रही है परन्तु प्राप्ति अभी कुछ भी नहीं हुई। हर एक भोगी पाने के धोखे में स्वयं को खोये हुए हैं, वह जिस आनन्द को शान्ति को बाहर खोज रहा है, वह तो उसी के भीतर है पर देखने को दृष्टि नहीं खुली है। जो स्वयं को नहीं पा सका, उसका सब कुछ पाना व्यर्थ है। सब कुछ देखना निस्सार है। अपना ही अज्ञान अपने बन्धन का दुखों का मूल है। साधक को इस बन्धन से मुक्त होना

है, भीतर की पराजय को जीतना है, तभी पूर्णता का अनुभव हो सकता है।

मनुष्य पाप में नहीं है, अज्ञान में है, समस्त पाप अज्ञान की भूमिका में हो सकता है।

स्व के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। यदि होश हो तो भगवान की प्रतिष्ठा मूर्ति में नहीं अपने में करो और अपने में ही प्रभु की उपासना करो।

जो होते कुछ हैं और बताते दिखाते कुछ और हैं वही पाखण्डी हैं। सन्त कहते हैं तुम जैसे हो अपने को वैसे ही देखो, बाहर जैसा कुछ है वैसा ही जानो।

भगवान का मानते रहो। **तुम्हारी बुद्धि भगवान में स्थिर हो जायेगी यदि तृष्णा का त्याग कर दो। तुम्हारे तृष्णा का त्याग आसान हो जायगा यदि लोभ का त्याग कर दो। तुम्हारे मन से लोभ भी मिट जायगा, यदि सांसारिक सुख की आसक्ति छोड़कर भगवान के सम्मुख हो जाओ।**

मान की चाह, भोग की चाह, धन की चाह रहते शोक, भय, दुःख नहीं मिटते।

सन्त संग से यह भी मालूम हो सका कि काम, क्रोध, लोभ, मोह का त्याग तभी संभव है जब अपने स्वरूप का 'मैं' का ज्ञान होगा। समस्त दुःख आत्मा के अज्ञान के ही कारण रहते हैं।

आत्मा को जानने के लिये **विचार द्वार का प्रारंभ है अंत नहीं है। विचार से समाधान नहीं होता, दोष का, भूल का, भ्रान्ति का दर्शन होता है,** योग की अनुभूति नहीं होती। जहां विचार समाप्त होते हैं, वहीं योग का अनुभव होता है।

विचार से निर्विचार में, शब्द से शून्य में, स्थिर होना है यही ध्यान योग है।

त्याग की चिन्ता न करो, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो। अज्ञानी त्याग करते हैं, ज्ञानी से स्वतः त्याग होता है। अज्ञानी के त्याग का बार-बार स्मरण करता है, उसे त्याग का अभिमान होता है। ज्ञानी सत्स्वरूप में स्थित होता है, त्याग भूल जाता है **जिसकी स्मृति बनी रहे, वह त्याग नहीं है। जितना त्याग का अहंकार होता है उतनी ही प्रभु से विमुखता रहती है।**

जो मुक्त है, भक्त है, वही अहंकार से रहित है, विनय से कृतज्ञता से आपूरित है।

अहंकार के समान कहीं, दीनता दरिद्रता का परिचय नहीं मिलता। अहंकार से दरिद्रता की और निरहंकारिता समृद्धि की सूचना मिलती है।

एक सन्त ने समझाया कि बना हुआ त्यागी कदाचित भोग से बच जाता है पर दमन के अभिमान में फंस जाता है।

अपने को न जानना मुख्य अज्ञान है, इस आत्म अज्ञान से ही हिंसा, काम, क्रोध, घृणा, द्वेष, कलह, परिग्रह, तृष्णा आदि पुष्ट होते रहते हैं।

सत्य परमात्मा को जानना है तो स्वयं को जानो। ब्रह्मर्षि स्वयं को, आत्मा को जानने की प्रेरणा देते हैं। चैतन्य सिन्धु में जब विचार तरंगें नहीं होतीं तब समाधि होती है। मुझे समझाया गया है कि जब तक तुम कुछ होना चाहते हो या कुछ पाना चाहते हो, तब तक वासना का प्रभाव है।

जो नित्य प्राप्त है, वही आत्मा है। उसका अनुभव तभी होता है जब चित्त शान्त शून्य हो जाग्रत हो, तन्द्रित नहीं हो।

सब क्रियाओं से रहत हो जाओ, ध्यान छोड़ दो तब ध्यान होगा। जब तुम कुछ नहीं करोगे तब उसका बोध होगा जो तुम में है, नित्य है, निरन्तर है।

दृष्टि दृश्य में अटकी हो तो विचार है। दृष्टि दृश्य से मुक्त हो तब ध्यान होता है।

सन्त से मैंने सुना कि जो सबका साक्षी है उसे किसी साधन के द्वारा नहीं पाया जाता।

जब कुछ जानने योग्य नहीं रहता तब केवल ज्ञान स्वरूप शेष रहता है।

शब्द से संसार को और शून्य से स्वयं को जाना जाता है। दृश्य के दृष्टा बनो, संगम करो। न कुछ पकड़ना है न कुछ छोड़ना है केवल संगरहित होकर देखना है। असंग हुए बिना दृश्य बन्धन का कारण बनता है।

मैं शरीर नहीं हूँ आत्मा हूँ यही ज्ञान सन्यास है। सन्यास लिया नहीं जाता, हो जाता है। राग विराग का अभाव सन्यास है। ज्ञान के द्वारा स्व को पर को जान लो, आत्मा नित्य प्राप्त है संसार निरन्तर छुटा हुआ है। शास्त्रों में सत्य नहीं है, स्वयं में सत्य है, जब तक तुम कुछ बनोगे तब तक जो कुछ हो उसे नहीं देख सकोगे।

चित्त शान्त हो, शून्य हो, निर्विकार हो, तब सत्य का बोध होता है, यह गुरु निर्णय है। सन्त ने यह भी समझाया कि अपने में उतरो, वहीं सत्य को पा जाओगे।

''जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी खोजन चली रही किनारे बैठ।।''

वृत्ति को अन्तरमुखी करो, भीतर स्व में स्थिर करो।

मनुष्य के बनाये हुए मन्दिर में तथा मनुष्य की बनाई हुई मूर्ति में परमात्मा को खोजने वालों आगे देखो परमेश्वर के बनाये मन्दिर में, उसकी बनाई हुई मूर्ति में परमात्मा की उपासना करो।

स्व को जानना ही यथार्थ ज्ञान है। जब कुछ न करोगे तब कर्ता का दर्शन होगा। काम में नहीं विश्राम में दर्शन होता है।

वास्तविक ध्यान काम नहीं है, पूर्ण में विश्राम है।

''कहे कबीर मोरे और न काम। बैठे लेटे वो ही ठाम।।''

आसक्ति ममता लोभ मोह छूटे बिना आत्मा का बोध न होगा।

'मैं' जान लेने से आसक्ति ममता लोभ आदि दोष स्वतः छूट जाते हैं।

तब लगि कुशल न जीव कहुं सपनेहुं मन विश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुं, शोक धाम तजि काम।।

संसार में नाना प्रकार के पदों का ज्ञान मनुष्य को हो रहा है। कोई न कोई पद पर अधिकार पाने की सभी कामना करते हैं, आप परमार्थी हो तो राम पद को जानो। राम पद की आराधना, उपासना करो, वह पद बाहर नहीं है 'स्व' में ही प्रतिष्ठित है।

भीतर ही खोज करो, पूछो और चुप हो जाओ, मौन होकर उत्तर की भीतर ही प्रतीक्षा करो। हमें सन्त ने समझाया कि शब्द में नहीं शून्य में समाधान है।

जो देखता है उसे ही देखो यही पूर्ण योग है। बुद्धि स्थिर होती है तब अनुभव होता है। स्वयं को जाने बिना ज्ञान की प्यास नहीं मिटती।

नाम रूप की आसक्ति छोडने के लिये प्रभु में नाम रूप की भावना करना है, आगे बढ़ कर नाम रूप छोड़ कर प्रभु को पाना है।

विचारों को रोक दो फिर मन का पता लगाओ। मन के हटते ही आत्मा का अनुभव होता है। जो रूप पर अटका है, वह अरूप तक नहीं पहुंच पाता। जाग्रत शून्य में ही सत्य का सानिध्य सुलभ होता है। यह गुरु आदेश है---

--- प्रकृति ही परमात्मा के दर्शन में पर्दा बन रही है, प्रकृति के भोगी न बनो तब योग होगा। **जो प्रकृति के प्रभाव से भरे हैं, वही परमात्मा की अनुभूति से खाली हैं।**

जो बाहर से मिलता है, वह ज्ञान भोग के लिए है योग के लिए नहीं है।

सत्ता के साथ एकता की अनुभूति समाधि लाती है। जब 'मैं' नहीं रहता तब समाधि है। मैं को शुद्ध साक्षी चैतन्य से तन्मय करो। **विचार को जो जानता है वह शुद्ध साक्षी चैतन्य है। साक्षी बने रहो, सब कुछ शुद्ध हो जायगा। ग्रन्थों का ही नहीं, अपना अध्ययन करो। तन की, मन की, बुद्धि की सीमा को देखो।**

देखो! ज्ञान कितना कठिन है पर उसका अभिमान अहंकार कितना सरल है। **जहाँ अहंकार है, वहाँ ज्ञान नहीं है।**

तुम एकान्त रहना चाहते हो तो एक सन्त से मैंने सुना है कि जिसके बाहर कोई नहीं है और भीतर भी कोई नहीं है वही एकान्त है। अनेकता जहां नहीं रहती वही एकान्त है। तन एकान्त में बैठा हो मन में स्मृतियों की भीड़ भरी हो वहां एकान्त नहीं है, एकान्त का केवल अभिमान है।

बाहर स्थूल दृश्य है, भीतर स्मृति है, उसके पीछे शून्य भावना है, उसके साथ सूक्ष्म विचार हैं, विचारों के पीछे वासनाये हैं फिर अहंकार है, उसके पीछे पहुंचने पर शून्य बिन्दु है, शून्य बिन्दु के पीछे ओंकार तत्व परम सत्य है। वहीं पर स्थिर होकर ध्यान है, फिर समाधि है, बोध है।

दृश्य के अंत में जो बचा रहता है, वही हमारा स्वरूप है।

एक सन्त के मत से सत्य के सम्बन्ध में जानकारी बुद्धिगत है और सत्य को जानना चेतनागत है।

वृत्ति का न उठना ही निवृत्ति है

प्रवृत्ति ही संसार है, प्रवृत्ति की निवृत्ति में ही शान्ति है। प्रवृत्ति चाहे भोग के लिये हो या मोक्ष के लिये हो, वह ही बाहर की ओर ले जाती है। जब तक कुछ बनने की वासना है, तब तक प्रवृत्ति है। जहां से अहंकार बुद्धि मन चित्त आदि का दर्शन हो रहा है, वहीं अपने को पहिचानो। नित्य आनन्द की अनुभूति ही सत्य की अनुभूति है।

एक सन्त कह रहे थे कि जो एक सिरे से जड़मय पशु है, वही दूसरे सिरे में चिन्मय प्रभु है।

ज्ञान चाहते हो अपने से प्रेम करो। अपने से प्रेम करते हुये ऐसा कुछ न करो जिसमें अपनी शान्ति भंग होती है। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष से अपने आप को ही अशान्ति होती है जो अपने को अशान्ति बनाता है वह अपने से प्रेम नहीं करता पर से प्रेम करता है। मन इन्द्रियों के साथ रहकर अपने को साथ लेना गिरने न देना ही साधुता है। जहां तक चाह है तृष्णा है वहीं अशान्ति है।

विचार की जहां समाप्ति है, सत्य का वहीं आरम्भ है। जो स्वस्थ है वही साधु है। शान्ति से, निरन्तर आनन्द से, समता से ही साधुता सिद्ध होती है, वाह्य वेष मात्र से नहीं।

किसी प्रकार की प्रतिकूलता में, हानि अपमान में, हमारे भीतर क्रोध क्षोभ न हो, कुछ न हो, हम शान्त शून्य बने रहें, विरोधी में प्रभु का दर्शन हो, यही साधु की सिद्धावस्था है।

अखण्ड शान्ति, समता, सरलता प्राप्त होने पर ही साधुता पूर्ण होती है।

एक सन्त ने कहा था कि आंखों से देखते देखते मनुष्य आंखें बन्द करके देखना ही भूल गया है, भीतर जो कुछ है वह बाहर की आंखें बन्द करने पर दीखेगा। इसका आशय यह नहीं कि सदा आंख बन्द करके बैठे रहो।

बाहर जगत दृश्य है, भीतर दृष्टा है, वह सच्चिदानन्द है। केवल दृष्टि प्राप्त करो अर्थात् दृष्टि बदल दो और दृश्य के अन्तर सत्य को देखो।

हमें यह भी समझाया गया है कि वासना कामना को छिपाओ नहीं, दबाओ नहीं, उसे मिटाओ।

पूर्ण स्वतन्त्र बनो। स्वतन्त्र वही है जो किसी के बन्धन में नहीं है और जिसके बन्धन में कोई नहीं है।

एक सन्त से मैंने सुना कि भोग काल में आप वासना कामना के बन्धन में रहते हैं और जब दमन करते हैं तब वासना कामना एवं कुछ वस्तु या व्यक्ति आपके बन्धन में होती है।

राग विराग दोनों में बन्धन है सुख दोनों बांधते हैं, बीतराग ही बन्धन से मुक्त होता है।

हमें पाप का मनन चिन्तन नहीं करना है, परम प्रभु के ध्यान में तल्लीन रहना है।

सब पाप अज्ञान में, बेखबरी में, असावधानी में होते हैं। आप पाप प्रवृत्ति से न लड़ें **आत्म अज्ञान को दूर करें।** यही मुख्य रोग है।

आप अपने जीवन को जानें। जीवन जन्म मृत्यु के मध्य में नहीं है, प्रत्युत जन्म मृत्यु जीवन के अन्तर्गत है।

आत्मा को शुद्ध बुद्ध नित्य मान लेने से शिवोहं कहने मात्र से मुक्ति नहीं मिलेगी, पापों की बन्धनों की, दुर्व्यसनों तक की निवृत्ति नहीं होती। आत्मा जैसा है उसका साक्षात् करना होगा। केवल वाचिक ज्ञान से दुःख नहीं मिटते।

सत्य के बोध के लिये अपने आपको जानो।

आत्म ज्ञान में ही विश्राम मिलेगा। आत्म से ही प्रीति हो, आत्म से ही सन्तोष हो, आत्मा ही निर्माता हो, तब कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती।

तुम असीम में हो किन्तु अपनी बनाई हुई सीमाओं से घिरे हो, असीम में होकर सीमाओं को जान लो।

सत्य आत्मा की अनुभूति समता में होती है, राग द्वेष की विषमता दूर होने पर समता प्राप्त होती है। स्वयं में स्थिर होना ही समता है। अन्य के आश्रय में ही विषमता है।

सावधान

ओ आने वालों इतना समझ लो,
इस जग से तुमको जाना ही होगा।
यदि रह गई हैं कुछ वासनायें,
उनके लिये फिर आना ही होगा।।
जब तक किसी पर अधिकार रखकर,
जितना अधिक सुख तुम भोगते हो।
मानो न मानो जीवन में अपने,
पुण्यों की पूंजी गंवाना ही होगा।।
दानाधिकारी बन कर किसी से,
श्रद्धा के बाहर यदि धन लिया है।
तुम ले के देना भूलो भले ही,
जो ऋण लिया वह चुकाना ही होगा।
जिससे किसी को दुख हो रहा हो,
ऐसा असत् कर्म होने न पाये।
सुख के लिये जो दुख दे किसी को,
उसको कभी दुख उठाना ही होगा।।
तुम दूसरों को वह देते रहना,
जो दूसरों से स्वयं चाहते हो।
जैसा भी दोगे वैसा प्रकृति से
बहुगुणा तुमको पाना ही होगा।।

कुछ जानना है अपने को जानो,
मानना है तो प्रभु को ही मानो।
करना है तो सबकी सेवा करो तुम,
जीवन किसी विधि बिताना ही होगा।।
छोड़ो अहंता ममता जगत की,
परमात्मा से ही प्रीति जोड़ो।
देखो 'पथिक' तुम जिनकी शरण हो,
उन पर ही विश्वास लाना ही होगा।।

देख लिया

हम सबको इक दिन जाना है, इस जग में आके देख लिया।
कुछ दिन तक ही रह पाना है, घर घर में जाके देख लिया।।
ऐसा कोई अब तक न मिला जो आकर के फिर गया न हो। फिर भी
मूरख रहना चाहें, उनको समझा के देख लिया।।
भोगी जन तो वाणी के मधुर मन के कठोर ही दिखते हैं।
प्रेमी योगी विरले कोई यह खोज लगा के देख लिया।।
अपना माना था जिसको भी वह कोई अपना रह न सका।
हम भी तो किसी के हो न सके कुछ समय बिता के देख लिया।।
हम भी तो धन की मान भोग की पूर्ति चाहते आये हैं।
तृष्णा की आग न बुझती कभी बहुतेरा बुझा के देख लिया।।
जब तक भीतर से त्याग न हो कामना अहंता ममता का।
तब तक सन्यास नहीं होता सब वेष बना के देख लिया।।
जब तक कि आत्मा में निश्चल सन्तुष्टि तृप्ति दृढ़ प्रीति न हो।
तब तक विश्राम नहीं मिलता सब नियम निभा के देख लिया।।
सब दौड़ रहे हैं जिधर उधर से लौटने वाले कहते हैं।
जो कुछ भी मिला वह रह न गया दुनियां को रिझा के देख लिया।।
जिस अमृतत्व को खोज रहे थे इधर उधर मर कर जी कर।
हम पथिक उसे अपने में अहं का परदा उठा के देख लिया।।

सावधान

हम उस अनन्त शक्तिमान सकल गुणनिधान परमात्मा का स्मरण कर रहे हैं जिसकी अहेतुकी कृपा से हमें सावधान रहकर प्रत्येक कर्म करने की प्रेरणा मिलती है, जिसकी कृपा से हमें बुद्धियोग सुलभ होता है, उसी बुद्धि योग द्वारा ही हम सावधान होकर यथार्थ दर्शन, यथार्थ श्रवण तथा मनन करते हुए कर्तव्य परायण बन सकते हैं।

एक सन्त ने हमें समझाया था कि जो कुछ तुम्हारे प्रारब्धवश अपने आप ही होता है, उसे प्रभु के प्राकृतिक विधान से आया हुआ जानकर शांत प्रसन्न रहो और उसके पश्चात् ही जब तुम कुछ करने चलो तब सावधान रहो।

सावधान होकर यह समझ लो कि जितने कर्म हम सब कर चुके हैं, उनका फल अपने ही समयानुसार आयेगा **इसीलिए हमें सावधान रहकर अब ऐसे कर्म नहीं करना है जिसका फल हमें अप्रिय है, दुःखकर है। कर्म का दुखद परिणाम जानते हुए भी सुखासक्तिवश दोष त्याग का संकल्प दृढ़ नहीं हो पाता। बार-बार वही भूल होती हो तो दुखी होकर प्रभु से प्रार्थना करो।**

एक भक्त ने हमें बताया कि सावधान रहने के लिये तुम मानस की इस चौपाई का भाव सहित कई बार जप कर लिया करो-

ताके युग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।।

मनुष्य जितना अधिक आलसी प्रमादी चिन्तातुर चंचल मन वाला अजितेन्द्रिय होता है, उतना ही असावधान रहता है। अतः नाम जप अधिक होना चाहिये।

साधक को अभीष्ट की सिद्धि के लिये सावधान रहना अनिवार्य है। सावधान रहने के लिये सन्तसंग करते रहो।

सन्त की सम्मति है कि यदि तुम्हारे ग्रह प्रतिकूल नहीं हैं, किसी पाप कर्म का भुगतान नहीं लिया जा रहा है तो सर्वत्र सावधान होकर चलो,

सावधान होकर देखो, सावधान होकर सुनो, सावधान होकर ही ग्रहण, त्याग करो।

यदि सावधान रहने की योग्यता तथा शक्ति नहीं है तो बड़ों की, गुरुजनों की आज्ञा लेकर ही प्रत्येक कर्म करो। अपनी बुद्धि में जब सजगता न हो तब किसी सुहृद का, मित्र का, आचार्य गुरु का आश्रय लेना चाहिये। जब यह सुलभ न रहे, तब अपनी देह इन्द्रियां मन बुद्धि के अधिष्ठाता देवताओं का आश्रय लेना चाहिये। जब देवताओं की दया से भी परम शान्ति न मिले तब अन्तरात्मा परमात्मा का आश्रय लेकर निश्चिन्तता एवं विश्राम प्राप्त करना चाहिये।

एक सन्त ने हमें बहुत ही सुलझा हुआ निर्णय दिया, हमें बताया कि तुम सदा तन से, मन से, बुद्धि से, विवेक से सावधान होकर प्रत्येक कर्म करो, सावधान होकर ही तन की, धन की, परिवार की, रक्षा करो, सावधान रह कर ही सम्पत्ति, सम्मान, अधिकार प्राप्त करो, परन्तु सावधान रहते हुए या न रहते हुए जो कुछ अपने आप प्रतिकूल घटना घट जाये तब उसे प्राकृतिक विधान से निश्चित मंगलमय मानकर शान्त प्रसन्न रहो और पुनः किसी भी घटना के पश्चात सावधान रह कर अपने कर्तव्य का निर्णय करो।

सन्त के मन्त्र के समान हमें यह वाक्य याद हैं-

''जो अपने आप हो उसमें प्रसन्न रहो,
जो कुछ करो उसमें सावधान रहो।''

जिसको स्व का तथा पर का, विनाशी का अविनाशी का, नित्य अनित्य का, सत् असत् का, जड़ चेतन का, आत्मा अनात्मा का, सदा स्मरण बना रहता है, वही सावधान है।

जो दुख की प्रतीति में दूसरे को दोषी नहीं ठहराता, सुख की प्रतीति में किसी वस्तु व्यक्ति को सुखद मान कर रागी नहीं बनता, जो अनुकूलता प्रतिकूलता में शान्त सम रह कर अपना कर्तव्य पालन करता है, वही सावधान है।

जो हानि होने पर, प्रिय सम्बन्धी का वियोग होने पर, अनादर अपमान होने पर, दुःखी होता है, शोक विलाप करते हुए भाग्य को कोसता है, वही असावधान है अर्थात् जो वस्तुओं का लोभी है, व्यक्तियों का मोही है,

पदाधिकार का अभिमान है, जो विषयों द्वारा मिलने वाले सुखोपभोग का कामी है, वही असावधान है।

जो अपने समय को, शक्ति को व्यर्थ वार्ता में व्यर्थ क्रिया में, चिन्ता क्रोधादि में नष्ट करता है, वही असावधान है।

आत्मा को **न जानने वाला** सदा **असावधान** रहता है। **आत्मा** को **जानने वाला सावधान** रहता है। परमाश्रय परमात्मा को भूल कर जो सांसारिक जनों का सहारा लेता है, अपनी प्रसन्नता किसी वस्तु व्यक्ति पर तथा अवस्था परिस्थिति पर निर्भर करता है, वह असावधान है।

जो आत्मरूप है आत्मा के निकट बुद्धि स्थिर रखकर जो दृश्यमात्र का दृष्टा बनता है, वही सावधान है।

जो कोई चोरी छल, कपट, अनाचार, व्यभिचार, दुराचार में प्रवृत्त होता है, वही असावधान है। असावधान पिता पुत्र को, असावधान गुरु शिष्य को, असावधान नेता समाज को, असावधान शिक्षक विद्यार्थी को, सावधान नहीं कर पाता।

सच्चा सावधान वही है जिसे देखकर देखने वाला सावधान हो जाये।

असावधान को देखकर जो सावधान होता है वह या तो स्वार्थी भोगी है या कोई कल्याणार्थी साधक है।

सन्त ने समझाया है कि जब तक तुम संसार में किसी प्रकार का किसी भी वस्तु से व्यक्ति से सुख चाहते हो तब तक सुख भोग के साथ चिन्ता भय शोक दीनता ईर्ष्या द्वेष कलह कलंक से बच ही नहीं सकते, कुछ न कुछ प्रतिकूलतायें बनी ही रहेंगी। यह बातें पढ़कर सुनकर कदाचित सावधान होने पर ही देख सकोगे कि जिस किसी के संयोग से सुख की प्रतीति होगी (प्राप्ति नहीं) उसी से तुम्हारी प्रीति होगी, चाहे वह लाख रुपये की वस्तु हो या हजार की हो, चाहे वह एक आने की हो – जिससे भी प्रीति होगी वही सुन्दर दिखाई देगी। यह भी निश्चित है कि जो कुछ भी तुम्हें मिलेगा वह सदा नहीं रहेगा, उसमें परिवर्तन होगा ही, उसका विनाश होगा ही और सम्बन्ध विच्छेद से मोहवश लोभवश अभिमानवश तुम्हें शोक दुःख होगा ही।

यदि तुम भय शोक विलाप कलह कलंक दुःख से बचना चाहते हो तो सावधान होकर तत्ववेत्ता वीतराग पुरुष के संग से हर वस्तु के बाहरी भीतरी

रूप का तथा आत्मा के स्वरूप का विवेक प्राप्त करो। यह भी स्मरण रखना–

तुलसिदास हरि गुरु करुणा बिन विमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।।

महर्षि जैमिनि का निर्णय है कि जिस समय मनुष्यों के पुण्य क्षीण हो जाते हैं, उस समय उसे पशुओं से, चोर से, सर्प से, अग्नि से, शत्रु आदि से भय, कष्ट ही कष्ट मिलने लगते हैं। जब तक पुण्य सहायक रहते हैं तब तक सब ओर से अनुकूलता रहती है।

सन्त हमें सावधान करते हैं कि बुद्धिमान मनुष्य को पाप कर्म से बचते रहने के लिये और पुण्य कर्म को पूर्ण करने के लिये सावधान रहना चाहिये।

पाप से व्याधियां बढ़ती हैं, पाप से बुढ़ापा में अति कष्ट मिलता है, पाप से हर एक के सामने दीन होना पड़ता है, पाप से अनेक भयंकर शोक दुःख भोगने पड़ते हैं। यह पाप मनुष्य का यहां शत्रु है। इसीलिए भारत के सन्त महात्मा दोष के मूल अमंगलकारी पाप के आचरण से सदा सावधान रहते हैं, पाप के भय से सदा घबराये रहते हैं।

पाप से बचने के लिये भी अपने अन्तरस्थ परमात्म से प्रार्थना करते रहना चाहिये जिससे कि बुद्धि पुण्य के लिये सदा सावधान रहे। **जो हृदय में खटके, उसी को पाप कहा गया है। इच्छा न होते हुए पाप इसीलिए हो जाता है क्योंकि कोई इच्छा प्रबल है।**

गुरु प्रवचन में हमने यही सुना है, समझ में आया है कि जो मानव दुःख से बचना चाहता हो और उत्कृष्ट पुण्य मय सुख को विशेष समय तक भोगना चाहता हो उसे **सावधान होकर पुण्यों का संचय करते रहना चाहिये।**

अपने अपने स्वभावानुसार इन्द्रियों के विषय-सुख में प्रायः पशु पक्षी कीट पतंग भी सावधान होना जानते हैं, परंतु उन्हें परिणाम का विवेक नहीं होता, इसीलिए सभी प्राणी सुखोपभोग के अंत में न चाहते हुए भी दुःख ही भोगते हैं।

एक बगुला मछली पकड़ने के लिये, एक बिल्ली चूहा पकड़ने के लिये, एक छिपकली कीड़े पकड़ने के लिये, इसी प्रकार एक शिकारी छोटे-छोटे जन्तु जीवों को मारने के लिये पूर्णतया सावधान दीखता है किन्तु अपने को यमपाश से बचाने के लिये जो कोई सावधान है वही विवेकी

बुद्धिमान है।

जो भोगता है वह सावधान नहीं है, जो भोगने वालों की गति दुर्गति को देखता है **वही सावधान है क्योंकि वह दुर्भाग्य का कुफल भोगने वालों को देखकर दुष्कर्म से दूर रहता है।**

विचार न करने के कारण हम सहस्त्रों साधक कितने असावधान हैं। क्योंकि यह देख ही नहीं पाते कि बाहर जो कुछ हो रहा है उसका परिणाम भीतर क्या पड़ रहा है?

जब कभी किसी प्रकार धन का लाभ होता है तब हम लोग बहुत हर्षित होते हैं परंतु भीतर लोभ की वृद्धि को नहीं देख पाते।

जब कभी कुछ पदाधिकार की प्राप्ति होती है तब **हम हर्ष से उछल पड़ते हैं परन्तु भीतर अहंकार की वृद्धि को नहीं देख पाते।** इसी प्रकार किसी प्रिय संयोग से हम अत्यधिक तृप्ति का अनुभव करते हैं परंतु भीतर मोह की वृद्धि को नहीं समझ पाते।

जब कभी सुन्दर रूप सुधा को आंखों से पीते हुए हम अपने को धन्य मानते हैं परन्तु भीतर काम की जो अग्नि प्रज्वलित होती है, उसे नहीं देख पाते।

किसी प्रकार की वाह्य शक्ति को बढ़ते देख कर हम परम संतुष्ट होते हैं परन्तु भीतर कितने शक्तिहीन होते जाते हैं– यह सावधान होकर नहीं देख पाते।

हम बाहरी वस्तुओं के विषय में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करते जाते हैं परन्तु अपने को किस प्रकार भूले हुए हैं– उस अज्ञान की चिन्ता नहीं करते अर्थात् आत्म अज्ञान नहीं मिटाते।

हम बाहर की विजय पर गर्वोन्मत्त हो उठते हैं परन्तु भीतर काम क्रोध लोभादि से कितने पराजित हो रहे हैं, इस दुर्दशा पर ध्यान नहीं देते।

सन्त ने हमें सावधान किया है कि आनन्द अपने आप में ही है, उसे बाहर खोजना अपने को ही खोये रहना है। वह भोगी घोर असावधान है जो सब कुछ पाने के बदले में सवयं को खो रहा है, स्वयं को भूलकर कुछ पाने का हर्ष ही शोक का पथ है।

सावधान होकर देखने पर ही पता लगता है कि 'स्व' से बढ़कर कुछ नहीं है क्योंकि उसे जानकर पुनः और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती।

सन्त से समझाया है कि जो स्वयं को नहीं जान सका, उसका सारा ज्ञान व्यर्थ ही है, वह अपने लिये असावधान है।

हम साधकों को भीतरी पराजय जीतने के लिये भीतर के दोष हटाने के लिये अर्थात् ममता अहंता के त्याग के लिये सावधान रहना है और जो कुछ मिला है उसका भोग न करके उससे सेवा करते रहना है।

श्रुति स्मृति एवं संत महात्माओं का यही आदेश है कि उस सर्वसमर्थ अनंत प्रभु को अपना सर्वस्व समझते हुए उससे मिली हुई वस्तुओं के लोभी मोही न बन कर, उन्हें अपनी न मान कर, प्रभु को ही जानकर, उन वस्तुओं के द्वारा दूसरों की सेवा सहायता करते रहो।

यथाशक्ति मिली हुई प्रत्येक वस्तु की रक्षा करने में इसलिये **सावधान रहो जिससे कि दूसरों के मन में तुम्हारी असावधानी के कारण लोभवश चोरी की, छल कपट करने की प्रवृत्ति सहज स्वभाव न बन जाये।**

प्रायः अनेकों मूर्ख अशिक्षित लोभ से तथा कामनाओं से विवश होकर दूसरों की वस्तुओं को अथवा धन को छल कपट करके लेते ही रहते हैं, वे धर्म सदाचार के महद्फल को और अधर्म दुराचार के कुफल को नहीं जानते। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अच्छे शिक्षित विद्वान माने जाते हैं, वह भी छोटी चोरी नहीं, बड़ी-बड़ी चोरियां करते कराते रहते हैं। कभी-कभी तो भयवश धर्म न्याय के पक्षपाती भी दुर्जनों के दुष्कृत्यों का विरोध नहीं कर पाते।

जहां असावधान मनुष्य सुखद संयोग में, लाभ में सम्मान में, पदाधिकार में, वैभव ऐश्वर्य के मद में अपने सत्लक्ष्य से विमुख हो जाते हैं, फिसल जाते हैं, जहां असावधान भोगी वियेग में, हानि में, अपमान में, पदच्युत होने में, अभावों में ठोकर खाकर गिर जाते हैं, वहीं **सावधान मानव अनुकूल परिस्थिति में विचलित न होकर उसे लांघ जाते हैं** और प्रतिकूल परिस्थिति में ठोकर नहीं खा कर उस पर पैर रख कर ऊपर चढ़ जाते हैं। वास्तव में उसे ही बुद्धिमान विद्वान विवेकी माना जाता है जो अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति में विवेक पूर्वक सावधान है।

जो केवल शरीर से सावधान होता है वह पशु है, जो शरीर के साथ ही मन से सावधान होता है वह दानव है, जो शरीर इन्द्रिय मन के साथ बुद्धि द्वारा परिणाम दर्शन करते हुए कर्तव्य धर्म पालन में सावधान है, वही विवेकी मानव है। जो सर्वसंग से असंग रहकर स्वयं में सावधान है वही सिद्ध है, वही सत्संगी है, उसी पर असत् का बन्धन नहीं रहता, वही मुक्त है।

प्रिय साथियों! हमको तुमको आलस्य प्रमाद एवं अज्ञान की सीमा में होने वाली उस असावधानी को भी देखते रहना है जिसके कारण कभी-कभी हम लोग ठगे जाते हैं, वस्तुएं चोरी चली जाती हैं, अच्छी वस्तु की ओट में बुरी वस्तु आ जाती है, झूठे लोग सच्चे बन जाते हैं, हमारी सच्चाई, झूठ सिद्ध कर दी जाती है।

असावधानी के कारण ही हम लोग जहां पर जो सम्मान सत्कार तथा जो दान करना चाहिये वहां पर नहीं करते, जहां जो कुछ आवश्यक नहीं होता वह कर डालते हैं।

असावधानी के कारण ही हम लोग जहां पर जो कुछ देखना चाहिये वह नहीं देखते, जो कुछ सुनना चाहिये वह नहीं सुनते, जो न कहना चाहिये वह कह जाते हैं, जो नहीं सुनना चाहिये वह सुन लेते हैं।

मनुष्य के सामने जितने भी हानि के अवसर, पश्चाताप के अवसर, गिरावट फंसावट के अवसर आते हैं, वह सब असावधानी के कारण ही आते हैं।

परमात्मा को तथा स्वरूप को एवं कर्तव्य को भूलना ही असावधानी है।

अनन्त दाता ने जहां हमें शरीर दिया है, हाथ पैर दिये हैं, वहीं देखने सुनने के लिये आंखें कान आदि इन्द्रियां भी दी हैं, जहां मन दिया है वहीं पर परिणाम दर्शन के लिये बुद्धि भी दी है।

गुरुजन हमें सावधान करते रहते हैं कि जब कोई कार्य करो, तब सर्वांग-योगपूर्वक करो। हाथों पैरों से कर्म करते हुए यदि आंख से काम नहीं लिया, मन की इच्छा पूर्ति करते हुए यदि बुद्धि, विचार-विवेक से काम न लिया तो असावधानी का दुष्परिणाम तुम्हीं को भोगना होगा।

प्रातः सावधान होकर उठते ही प्रभु का स्मरण कर लो, प्रार्थना के

साथ कर्म आरम्भ करो और रात्रि में प्रार्थना करके सो जाओ।

परस्पर सम्बन्धित जनों के प्रति कर्तव्य पालन में कहीं आलस्य प्रमाद असावधानी न घुसने दो।

वस्तुओं के उठाने में रखने में उनकी स्वच्छता के लिये भी सावधान रहो। उठने बैठने चलने तथा शौच लघुशंका निवृत्ति में भी जीव हिंसा से सावधान रहो। किसी आगत के स्वागत में सत्कार में भी भूल न होने दो।

हमें यह भी समझाया गया है कि जब तुम्हें कभी छली कपटी दम्भी पाखण्डी वेषधारी असाधु असज्जन मिल जायें तब सावधान रहना। कभी उनसे घृणा द्वेष क्रोध करके अपनी प्रसन्नता शांति भंग न करना प्रत्युत् उनके प्रति करुणा भाव रखते हुए यही विचार करना कि यह जीव अपने स्वभाव से विवश होकर अकरणीय कर्म करते हैं। दुःख से तप तप कर यह भी कभी सज्जन साधु सदाचारी धर्मनिष्ठ होंगे।

किसी के दोषों को देखते हुए सावधान होकर अपनी ओर देखना, निर्णय करना **'किसी में कोई दोष है तो क्या मैं पूर्णतया दोष रहित हूं?'** कदाचित कोई दोष नहीं दिखाई दे फिर भी किसी में दोष दीखना भी एक दोष ही है। गुणों का अभिमानी पर दोष दर्शी होता है। सन्त ने सावधान किया है-

गुण और दोष ने देखिये, देखिये सो अविवेक।

जब तुम किसी के द्वारा ठगे जाओ तब अपनी मनःस्थिति देखो। यदि ठगे जाने का दुःख हो रहा हो तो भीतर रहने वाले लोभ रूपी दोष का त्याग करो।

यदि तुम्हें हानि के दुख से, अपमान के दुख से, पश्चाताप के दुख से बचना है, यदि ग्रह अनुकूल हैं, बुद्धि असुर-प्रेरित नहीं है, मन विक्षिप्त नहीं है तब तुम नित्य प्राप्त परमात्मा की कृपा कर तथा उनके मंगलमय विधान का ध्यान रखते हुए जब किसी से कुछ लो, या जब कुछ दो, तभी सावधान रहो।

इसलिये सावधान रहो कि हर एक प्राणी दूसरों से धन सम्पत्ति मान प्यार अधिकार, भोग, सुख लेते हुए ही तो रागी लोभी मोही आसक्त बनता है और दूसरों को कुछ देते हुए ही वह स्वार्थी अभिमानी अधिकार लोलुप बनता है।

सावधान होकर देखोगे तो तुम्हें चारों ओर धन के, मान के, भोग

सुखों के ही प्यासे भूखे लोग मिलेंगे। उदार हृदय से धन देने वाले, मान तथा प्यार, अधिकार देने वाले विरले ही सावधान पुरुष मिलेंगे।

सन्त सम्मति है कि तुम्हें भले ही कोई न मिले पर तुम सबके लिये यथाशक्ति पात्रानुसार उदार होकर दान का द्वार खुला रहने दो, देने योग्य को देते रहो।

अविवेकी प्रमादी व्यक्ति की समझ में भले ही न आये, पर यह सत्य है कि बहुत ही परिश्रम से प्राणी सुखद वस्तुओं को प्राप्त करता है और जो कुछ प्राप्त करता है उसी के आश्रय से लोभ मोह काम अभिमान आदि विकार उत्पन्न होते हैं किन्तु उससे अभाव की निवृत्ति नहीं होती।

वही साधक सावधान है विवेक युक्त है जो भगवान के भक्तजनों से प्रीति करता है, जो परमेश्वर की दया क्षमता करुणा सुमति धृति उपरति सहानुभूति आदि सद्गुण रूपी सम्पत्ति का लोभी होता है, तथा जो परमेश्वर के चिन्मय अंश होने का अभिमान करता है एवं जो अपने मन के दोषों पर अथवा क्रोध पर ही क्रोध करता है, जो अपने आप ही आलसी शरीर को भोगी विलासी मन को दण्ड देता है।

सन्त ने हमें सावधान किया है कि सबसे प्रथम अपने कर्म को पवित्र बनाओ। कर्म को शुद्ध रखने के लिये परस्पर के आचरण को शुद्ध रक्खो। आचरण शुद्धि के लिये प्रत्येक सम्बन्धों के प्रति धर्म का ज्ञान प्राप्त करो।

ज्ञान के द्वारा संस्कार ठीक करो, क्योंकि संस्कारों से बुद्धि की शुद्धि होती है, शुद्ध बुद्धि द्वारा कर्म के परिणाम का दर्शन होता है, परिणाम दर्शन द्वारा विधि निषेध का पालन किया जाता है। **जो सुख दुःख को भोगता है वह असावधान है, जो भोग के परिणाम को देखता है वह सावधान है।**

जब हम सावधान होकर देखते हैं तब लोभ मोह अभिमान अहंकार कुछ भी अशुभ दुखदायी नहीं दीखता; किन्तु कब अशुभ दुखदायी नहीं है – जब हम उससे मोह करते, उसके लोभी तथा अभिमान बनते, उससे मिलकर अहंकार करते, जिस पर हमारा सदैव अधिकार होता अथवा जो हमसे कभी न छूटता।

भूल एवं भ्रम यही है कि उस वस्तु पर उस व्यक्ति पर हम अपना अधिकार मानते हैं, उसके लोभी मोही बन जाते हैं जो वस्तु अपनी नहीं है, जिस पर अपना अधिकार नहीं है, जो हमसे छूट ही जाती है– ऐसी वस्तुओं

व्यक्तियों से मोह करना, उन्हें अपना मानना, उनसे मिलकर अभिमान अहंकार करना– यही अपनी अविवेकपूर्ण असावधानी है।

विनाशी वस्तुओं के प्रति लोभ मोह अभिमान अपनत्व के रहते किसी को विश्राम नहीं मिलता है। पूर्ण विश्राम एवं शांति के लिये प्रत्येक साधक को सावधान होकर अहंता ममता कामना आसक्ति का त्याग करना ही होगा। चाहे अभी करे या दुखी होकर कभी करे।

जब कि मनुष्य धर्म पुण्य का महत्व भूल रहा है, पाप प्रवृत्ति बढ़ रही है तब तुम कहां तक सावधान रहोगे? अब तो चारों ओर आसुरी प्रकृति का प्राबल्य दीख रहा है, तुम कहां तक रक्षा करोगे। लोहे की तिजोरी कट जाती है, बन्दूकों के पहरे व्यर्थ हो जाते हैं। **आज धर्म की नहीं धन की ही अधिक मांग है।** तीर्थों में घाटों में गोता लगाते लगाते सामान उठ जाता है। सामान बचाने वालों से सामान ले जाने वाले अधिक सावधानी से काम करते हैं।

परिवार की रक्षा बड़ी सावधानी से की जाती है परन्तु फिर भी परिवार में आरक्षित की भांति दुराचार व्यभिचार दुर्व्यसन दुर्व्यवहार चलता रहता है। **सावधान रहते हुए सन्तान कुकर्मी बन जाती है।**

बड़ी सावधानी से रोगी का उपचार किया जाता है फिर भी मृत्यु हो जाती है।

प्रायः मनुष्य सावधान रहने का संकल्प करते हुए भी अवसर पर सावधान नहीं रह पाता है, जो नहीं चाहता वह हो जाता है और न चाहते हुए भी सुख छिन जाता है, दुःख आ ही जाता है।

जहां हम सर्वत्र सावधान रहने की प्रेरणा पा रहे हैं वहीं पर यह भी सुन रहे हैं कि अपने पूर्व कर्मानुसार प्रारब्ध भोग जैसा जहां निश्चित है (वहां तुम कितना ही सावधान रहो) वह हो के ही रहेगा।

प्रायः हम देखते हैं कि एक व्यक्ति अपनी समझ से सावधान होकर चल रहा है फिर भी फिसल कर गिर जाता है, महीनों देह की क्षति का कष्ट भोगता है। प्रायः लोग सावधान होकर यात्रा करते हैं, बड़ी सावधानी से रुपये रखते हैं फिर भी भीतर की जेबें कट जाती हैं, रुपये निकल जाते हैं। हाथों से घड़ियां निकाल ली जाती हैं, रेल यात्रा में बक्से उतर जाते हैं, टिकट लेते समय कोई कोई पैसे ही नहीं लौटाते, कोई पैसे अधिक ले लेते हैं। कभी कभी सामान ही उठाना भूल जाते हैं। एक सज्जन मन्सूरी घूमने गए, लड़की की शादी के

लिये हजारों रुपये के आभूषण बनवाये थे, छत पर बिस्तरे रजाई के भीतर बांध कर टांग दिया था– बड़ी सावधानी की थी परन्तु चोर सब उठा ले गये।

चोरी में सावधान रहने वाले किसी एक गंजेड़ी बाबा ने रामायण गुटका की जिल्द के भीतर रामायण के बीच में गोल गोल जगह बना कर बीच से कागज निकाल कर बहुत ही सावधान से उस जिल्द के भीतर अफीम भर रक्खी थी। एक दिन उसकी सारी अफीम पकड़ ली गई। एक सावधान बुढ़िया ने दाल चावल के बरतनों में अपना धन रख छोड़ा था, उसे भी चोर उठा ले गये।

एक महाशय स्टेशन में कागज के बण्डल में दो हजार के नोट असावधानी से भूल कर घर चले गये, जब उन्हें स्मरण आया तब दूसरे दिन जिस स्थान से स्टेशन में बैठे थे वहीं आकर इधर उधर कर्मचारियों से दुखी मन से नोट खो जाने की चर्चा कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से एक साधारण व्यक्ति ने बाबू जी को एकान्त में ले जाकर कागज का बण्डल वापस कर दिया, उन्हें पूरे नोट मिल गए। वे कुछ इनाम देने लगे, उसने इतना ही कहा कि 'मैंने अपना कर्तव्य पालन किया है, इसमें इनाम की क्या आवश्यकता?', उसने इनाम नहीं लिया। कोई कितना ही सावधान होकर तन को धन को अधिकार को सुरक्षित रखना चाहे फिर भी किसी न किसी दिन मिला हुआ छूट ही जाता है।

शास्त्र और सन्त की प्रेरणानुसार हमें मिले हुए के उपयोग सदुपयोग के लिये सावधान रहना ही चाहिये परन्तु इसके साथ ही किसी समय भी छिन जाने वाली देहादिक वस्तुओं के तथा व्यक्तियों के वियोग में भी सावधान रहना चाहिये और जिससे नित्य योग है उसे देखना चाहिए।

जहां जहां जो व्यक्ति धोखा खाता है, ठगा जाता है, हानि उठाता है वहीं पर सावधान रहने के लिये दूसरों को समझाता है। कोई कहां तक सावधान रहेगा, और कौन किसे सावधान करेगा? जब तक किसी के भीतर लोभ है, कामना है, सुखासक्ति है, तब तक उसके द्वारा दूसरों का अहित ही होगा। लोभ मोह राग द्वेष तृष्णा के रहते भय चिन्ता से कदापि मुक्ति नहीं मिलेगी।

सबसे उत्तम समझ लेने योग्य यही बात है कि किसी अन्य से नहीं, तुम इस अज्ञान से सावधान रहो जिसके कारण मिले हुए तन को, मन को, धन को, जन को अपना मानकर मोही लोभी अभिमानी बन रहे हो।

तुम्हें सावधान ही होना है तो मिली हुई देह के प्रति आसक्ति से सावधान रहो क्योंकि एकमात्र देह की आसक्ति के लिये पीछे ही अनेकों वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति आसक्तियां लगी हुई हैं। आसक्तियों ने ही तुम्हारी स्वाधीनता का हरण कर लिया है, आसक्तियों के रहते तुम न मुक्त हो सकोगे, न भक्त हो सकते हो।

हमें यह भी समझाया गया है कि तुम्हें सावधान ही होना है तो बाहरी छली कपटी धूर्त मनुष्य की अपेक्षा अपने साथ रहने वाले मन से सावधान रहो क्योंकि इस मन के समान कोई संसार बंधन में फंसाने वाला नहीं और मन के समान दूसरा कोई भगवद् भक्ति में लगाने वाला नहीं और मन के समान कोई और दोषों की खान नहीं। और मन के समान एक दैवी सम्पत्ति का धारण करने वाला नहीं। प्रभु से विमुख रखते हुए मन के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं और प्रभु के सम्मुख होते हुए मन के समान कोई दूसरा मित्र नहीं। सावधान रह कर यह भी स्मरण रखना मन तुम्हारा करण है यह कर्ता नहीं है, कर्ता तो तुम्हीं हो।

सावधान होकर समझ लेना– मन को अपना मानने के समान कोई असावधान नहीं और मन को परम प्रभु का मानने के समान सावधानी नहीं। अतः सावधान रहकर मन को अपना न मानकर प्रभु का ही मानो और प्रभु के लिये ही इस मन का उपयोग करो।

सन्त ने हमें यह भी समझाया कि तुम अपने साथ रहने वाली बुद्धि से भी सावधान रहो– यह बुद्धि जब इन्द्रियों और मन के पीछे चलती है तब तुम्हें सुख दुख के बंधन में आबद्ध कर देती है। यही बुद्धि जब इन्द्रियों तथा मन के आगे देखती है तब परिणामदर्शी होकर सुख दुख के बन्धन के मुक्त होने का द्वार दिखा देती है। जब इन्द्रियों के पीछे बुद्धि काम करती है तब जगद्दृश्य नाम रूप सब सत्य प्रतीत होता है किन्तु जब इन्द्रियों के आगे बुद्धियोग द्वारा देखा जाता है तब जगत दृश्य अनित्य, सुख क्षणिक और शरीर नश्वर दिखाई देता है।

सावधान ही होना है तो अपने भीतर चित्त से सावधान रहो। क्योंकि चित्त से जिसका चिन्तन होता है उसी से तन्मयता हो जाती है। **सबसे अधिक तुम अहंकार अभिमान से सावधान रहो।**

कोई भी विचारवान मनुष्य देख सकता है कि कोई भी मनुष्य विनाशी

देहादिक वस्तुओं की रक्षा में, तथा संसार से मिलने वाले मान अधिकार भोग की रक्षा में एवं शक्ति सम्पत्ति की रक्षा में कब तक सावधान रहेगा? संसार में जो कुछ मिलेगा वह तो निश्चित ही छूटेगा। जिसे सावधान होकर बचायेगा वही एक दिन जायेगा।

यह गुरु निर्णय है कि तुम उस कर्तव्य के लिये सावधान रहो जो वर्तमान में करना है जिसे कि तुम कर सकते हो। तुम अपने स्वरूप की सतत स्मृति के लिये भी सावधान रहो, देहासक्ति सुखासक्ति वश इसे विस्मृत न होने दो।

तुम अनंत प्रभु के नित्य निरंतर अभेद अभिन्न सम्बन्ध में जाग्रत रहने के लिये भी सावधान रहो क्योंकि असावधानी से ही जीव अपने परमाश्रय प्रभु से विमुख हो जाता है और अहंकार की सीमा में आलसी प्रमादी बन कर स्वरूप को भूल कर अकर्तव्य के बंधन में दुःख भोगता है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि तुम सर्वत्र स्वतन्त्र नहीं हो इसीलिये जिस अनंत के विधान से तुम्हारे कर्मानुसार शरीर मन बुद्धि आदि कर्म करने के साधन मिले हैं **उसी अनंत शक्तिमान परम प्रभु से प्रार्थना करते रहो कि सर्वत्र सावधान रहने के लिये बुद्धि में वह विवेक बल सुलभ रहे, साथ ही देह इन्द्रियां तथा मन भी अपने अपने स्थान में शक्ति सम्पन्न बने रहें।**

अनन्तदाता प्रभु की दया कृपा से भले ही तुम सावधान रहने की शक्ति पाते रहेगो। केवल अहंकार की सीमा में तो तुम अनेकों प्रतिकूलताओं, असफलताओं का दुख ही भोगते रहोगे, अतः सावधान होकर देखो। **ऋषियों ने गायत्री मंत्र द्वारा सावधान होकर यही प्रार्थना की है कि यह हमारी बुद्धि धर्म में सत्य में प्रकाश में परमदेव में स्थिर हो।**

अनुभवी सन्त हमें बार-बार प्रेरित करते हैं कि तुम हर कार्य के आरंभ में, यात्रा के आरंभ में, दिवस के आंरभ में, सुखोपभोग के आरंभ में, परमप्रभु परमात्मा का स्मरण कर लिया करो। सन्त की सम्मति है-

रण बन व्याधि विपत्ति में वृथा डरो जनि कोय।
जो रक्षक जननी जठर सो हरि गयो न सोय।।

प्रार्थना करते समय परमात्मा का स्मरण चिन्तन करते समय सावधान रहना। कहीं दूर मानकर अपने को अलग समझ कर उसे अल्पज्ञ एक देशी न समझ लेना। **जब स्मरण करो तब यही विश्वास दृढ़ रक्खो वह सर्व**

शक्तिमान अनन्त दयालु कृपालु हमारे साथ ही है, हम उसी में हैं, वह हमारे आगे पीछे ऊपर नीचे शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि में सत्ता के रूप में विद्यमान है। स्मरण द्वारा उससे सम्बन्ध जोड़ लेना है। क्योंकि वह कहीं आता जाता नहीं है। जब हमारा मन भूत भविष्य में रमता है तब हमारा निवास निरंतर उसी परमप्रभु में ही रहता है। प्रार्थना, अपने प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने का सुगम साधन है।

कुछ विद्वानों का निर्णय है कि तुम मिली हुई शक्ति सम्पत्ति देह गेह की रक्षा के लिये सावधान रहना चाहते हो तो उन नवग्रहों की चाल को देखो जिनकी अनुकूलता से सर्वत्र लाभ और प्रतिकूलता से अनिच्छित हानि हुआ करती है।

गृह को अनुकूल बनाने के लिये आचार्यों ने यज्ञ दान तथा तप की व्यवस्था बना दी है।

परमानन्द स्वरूप भगवान ने भी बुद्धिमानों को सावधान किया है कि अपने को पवित्र बनाने के लिये यज्ञभाव से कर्म तथा शुभ सुन्दर पवित्र का दान और कर्तय पालन में कष्ट सहिष्णुता रूप तप अवश्य करते रहना।

श्रुति में ऐसा आश्वासन है कि यज्ञ से स्वयं भगवान सन्तुष्ट होते हैं परन्तु हम लोग यज्ञ कर्म करते हुए भी आसुरी शक्तियों द्वारा तब तक असावधान ही हैं जब तक यज्ञ के द्वारा तत्काल स्वयं ही धन बचाने मान पाने के लोभवश देवताओं को ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना भूल जाते हैं, स्वयं धन बचाकर सन्तुष्ट होते रहते हैं।

प्रायः हम लोग दान के विषय में भी सावधान नहीं हैं क्योंकि दान की वस्तु सुन्दर पवित्र अनूठी और सुपात्र को देखकर देनी चाहिये।

दान का ज्ञान वेदज्ञाता आचार्य द्वारा प्राप्त करना चाहिये। तीन प्रकार का दान, तीन प्रकार के दाता और तीन प्रकार के पात्रों का विवेक प्राप्त करना चाहिये।

हम साधकों को तप का यथार्थ विवेक प्राप्त करना है।

आचार्यों ने समझाया है कि तुम उस तप को स्वीकार करो जिससे दुर्बलताओं की तथा दोषों की निवृत्ति होती है। तुम शरीर को हठपूर्वक कष्ट न दो, प्रत्युत जहां कहीं कर्तव्य पालन में सेवा करते हुए अथवा प्रारब्धवश

प्रतिकूलता जनित कष्ट आयें, कभी अपमान हो जाये, हानि हो जाये तब उस कष्ट को धैर्यपूर्वक घृणा द्वेष निन्दा क्रोध से बचते हुए सहन कर लो।

तुम अपने आत्मा में इतना संतुष्ट तृप्त रहो, आत्मा में इतनी अधिक प्रीति करो कि बाहरी द्वन्दों का तुम पर प्रभाव ही न पड़े। तुम इतने शान्त स्वस्थ रहो कि दूसरे लोग तुम्हें अति कष्ट सहिष्णु मानें परन्तु तुम्हें उसका पता भी न रहे कि 'मैं तप कर रहा हूं'।

तप में बाधा डालने वाले सुखोपभोग तथा आलस्य एवं विलासी जनों के संग से सर्वत्र बचते रहो।

हमें सावधान किया गया है, यही समझाया गया है कि तप की सिद्धि के लिये संघर्ष न करो, तप के अभिमान से बचो, विनाशी में अविनाशी तत्व को मन्थन के द्वारा प्राप्त करो। संघर्ष द्वारा तत्व नहीं, तेज प्रकट होता है। राग विराग सुख दुख अनुकूल प्रतिकूल द्वन्द्वों में तटस्थ रहना ही सावधान विवेकियों का तप है।

एक सन्त में हमें सावधान किया है– कहीं दोष दर्शन करते करते, सर्वत्र दोष देखते रहने की दूसरों को बुरा समझने की आदत न पड़ जाये। सन्त से समझाया था कि दूसरों को बुरा देखने वाला, दूसरों की बुराई करने वाला, दूसरों का बुरा सोचने वाला समाज का हित नहीं कर सकता, वह अपना ही हित देखेगा।

वस्तु एवं धन सम्पत्ति बचाने के लिये लोभवश सभी पर संशय अविश्वास होना भी एक दोष है।

सन्त सम्मति है कि तुम सावधान रहकर प्रभु से मिली हुई बुद्धि का समयोचित वस्तुओं की रक्षा करने में उपयोग अवश्य करो परन्तु किसी को चोर असाधु दुष्ट समझ कर घृणा न करके उसमें बुद्धि विवेक की कमी जानकर लोभ मोही सुखासक्ति आदि दोषों की प्रबलता देखकर उस पर करुणा करो, उसका हित चाहो उसका बुरा न चाहो।

सावधान होकर देखो! कोई भी असाधु दुष्ट दम्भी चोर व्यभिचारी जब अनन्त प्रभु की सत्ता में उनकी प्रकृति से जीवन पाने का अधिकारी है तब तुम उससे घृणा क्यों करो?

किसी दुष्ट दुर्विनीत दुराचारी का संग होने पर जो ज्ञान में सावधान है,

वह क्रोध आने पर मौन रहते हैं। इसीलिए किसी प्रकार की प्रतिकूलता में क्रोध के वेग को रोकने के लिये सावधान रहना। **क्रोध रहित मनुष्य को देवता माना जाता है। जो अपने प्रति अपराध करने वाले को क्षमा कर देता है वही वीर है शत्रु पर विजयी है। परमप्रभु की क्षमा ने संसार को धारण कर रक्खा है।**

जो परनिन्दा में, दूसरों की बुराई करने में सुख मानते हैं, वह अपनी नीच प्रकृति से विवश हैं। कौवा विविध रस युक्त पक्वान खाने पर भी अपवित्र विष्टादि से ही तृप्त होता है। नीच प्रकृति वाले व्यक्ति से सावधान रहना, मित्रता शत्रुता कुछ भी न करना, घृणा द्वेष भी न करना।

यदि प्रारब्धवश नीच प्रकृति वाले से सम्बन्ध जुड़ा हो तब अपने लिये तो उसके सामने मौन ही रहना किन्तु उसके हित के लिये जो कुछ भी मृदु या घोर कर्म करना पड़े उसमें भय न करना।

जिस प्रकार अपने शरीर में फोड़ा हो जाता है तो विकार युक्त भाग को ही काट कर निकाला जाता है, पूरे अंग से घृणा नहीं की जाती, उसी प्रकार पाप दोष से घृणा करो, पापी मान कर किसी व्यक्ति से घृणा न करो।

जब तक साधक के भीतर धन का कुल का रूप का विद्या का तप आदि का अहंकार अभिमान प्रबल रहता है तब तक वह आत्म ज्ञान से युक्त नहीं हो पाता और इसी ज्ञान की कमी के कारण संसार के शासन से मुक्त नहीं हो पाता।

एक सन्त कह रहे थे, जो दिया है वही वापस होकर तुम्हें मिला है, अब शुभाशुभ जो दोगे वही वापस होकर मिलेगा जो कुछ मिलना, या जिसका आना और अपने ही जाना निश्चित है, उससे भय नहीं करना चाहिये प्रत्युत उसके आने पर और जाने पर जो कुछ करना चाहिये – उस कर्तव्य के प्रति सावधान रहने के लिये श्रुति स्मृति एवं विरक्त सन्तों की वाणी पर विचार करना चाहिये।

अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में अपने कर्तव्य का निर्णय भी हर एक व्यक्ति अपनी तमोगुणी रजोगुणी सतोगुणी बुद्धि के अनुसार ही करता है इसीलिये किसी यथार्थदर्शी विद्वान से ही कर्तव्य का निर्णय कराना चाहिये।

पाठक सज्जनों! जो कुछ पढ़ रहे हो, विचारपूर्वक देखो! क्या

सावधान रहने का स्मरण रहेगा!

एक अनुभवी विद्वान ने हमें समझाया था कि यदि तुम अपनी शक्ति को मन की वृत्तियों द्वारा व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहते हो तो अनावश्यक सम्बन्ध, मेल मिलाप न बढ़ाओ। विशेषकर धनवानों से उच्च पदाधिकारियों से बचते ही रहो। यदि तुम धनी मानी श्रीमानों से मिलकर उनकी दया प्राप्त कर अपने को धन्य मानते हो तो तब तो तुम्हारे भीतर अहंकार की ही वृद्धि हो रही है। अविवेकी असावधान व्यक्ति संग के प्रभाव को नहीं देख पाते, विवेकी ही देख पाते हैं और बचे रहते हैं। सुखोपभोग से मनुष्य का वर्तमान जीवन दूषित, दुर्बल होता है किन्तु सुखोपभोगी, उच्च पदाधिकारी धनिकों के संग से भविष्य भी दूषित हो जाता है। यदि तुम्हें प्रारब्धवश कोई ऐसा ही मित्र मिल जाये तब तुम अपने सदाचार शुद्ध आहार सद्व्यवहार का प्रभाव डालो, उसके अशुद्ध आहार, दूषित व्यवहार, अनर्गल आचार-विचार को कदापि स्वीकार न करो।

किसी असत्संगी को सन्मार्ग पर ले आना सावधान पुरुष का सुकर्म है। **शक्ति सम्पन्न साधक ही ऐसा कर पाते हैं,** भोगासक्त नहीं।

हम साधकों को यह भी समझाया गया है कि आलस्य से, असमय नींद से भी सावधान रहना, क्योंकि इससे तमोगुण बढ़ता है। इसीलिये दिन में नहीं सोना चाहिये। जो जागने के समय में सोता है उसे ही सोने के समय में जागना पड़ता है। सुना है, कि जो श्रमी नहीं होते वही आलसी हुआ करते हैं। आलस्य से ही प्रमाद बढ़ता है, प्रमाद से भी कर्तव्य की, स्वरूप, की, प्रभु की विस्मृति होती है। मैंने यह भी पढ़ा है कि जिस प्रकार विलासी भोगी जन, आलसी प्रमादी होते हैं, उसी भांति तप व्रत से विमुख असंयमी साधु गृहत्यागी भी आलसी विलासी बन जाते हैं।

वह पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन करते हैं, रात को तो सोते ही हैं, दिन में भी निद्राग्रस्त होते हैं। जिन्हें लोग सात्विक प्रकृति के साधु मानते हैं वे प्रायः तमोगुण से ही भरे रहते हैं।

जो साधक शरीर से श्रम नहीं करेगा और भोजन भरपूर पौष्टिक करेगा, उसे अवश्य ही आलस्य अधिक आयेगा, काम भी सतायेगा।

अतः साधक को एक बार ही भोजन करना और सात्विक भोजन

करना उत्तम माना गया है।

एक सन्त में हमें समझाया है कि सावधान रहो! कहीं अपने सुख के लिये किसी को अशान्त करने वाला दुःखी न होने पाये। अभिमानवश किसी का अपमान न हो जाये। अपने लाभ के लिये किसी की हानि न हो जाये। आलस्य प्रमाद असावधानी के कारण किसी का मनचाहा काम न बिगड़ जाये।

सावधान रहो! कहीं कुकर्म से हाथ अपवित्र न हो जायें, कहीं विषयों के भोग में इन्द्रियां अपवित्र न हो जायें, कहीं ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मद आदि दोषों से मन अपवित्र न हो जाये। अशुद्ध विचारों से बुद्धि अशुद्ध न हो जाये।

परमप्रभु के प्रति अनन्य प्रीति रहने के लिये भी सावधान रहो। प्रेमास्पद प्रभु पर अटल विश्वास दृढ़ रखने के लिये भी सावधान रहो।

बड़ों को मान देने के लिये, छोटों को प्यार, भूखे को अन्न, प्यासे को पानी देने के लिये तथा दीनों दुखी जनों को यथाशक्ति सहायता देने के लिये सावधान रहो। अहंकार को अभिमान से बचाने के लिये सावधान रहो।

तुम विवेकपूर्वक अपने लिये इतने सावधान रहो कि जब तुमसे छल कपट झूठ तथा दम्भ करके कोई धन ले जाये तब तुच्छ धन के पीछे अपनी शान्ति भंग न होने दो। विचार करो कि जो वस्तु अपने पास से चली गई वह अपने हिस्से की नहीं थी वरना जो ले गया, उसी के भाग की थी।

किसी के प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध, तुच्छभाव मन में आये तब अपनी असावधानी का स्मरण करो और सावधान होकर अपने भीतर के विकारों को दूर करो।

सन्त सावधान करते हैं कि तुम कामना से पीड़ित होकर द्वेष से दुष्ट वृत्ति धारण कर, आतंक से आकुल होकर, परनिन्दा में व्यस्त होकर तथा अपनी हानि से लोभवश त्रस्त होकर न अपना हित कर सकते हो, न दूसरों का ही हित कर सकते हो, अतः सदा सम शान्त रह कर अपना कर्तव्यपालन करो।

कर्तव्य परायण मानव से कभी किसी का अहित होता ही नहीं, वह तो कर्तव्य विमुख लोगों के प्रति भी अपना कर्तव्य पालन करता है।

प्रत्येक बुद्धिमान विद्वान को इसलिये सावधान रहना चाहिये क्योंकि असावधानी में अनेकों भूलें होती रहती हैं, असावधानी से ही जो कुछ अपना नहीं है, जिस पर अपना अधिकार नहीं है, उसे ही अपना मान लिया जाता है।

असावधान मनुष्य अपनी जानकारी का अभिमानी बन जाता है किन्तु यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। इस प्रकार असावधानी के कारण ही भूलजनित दुःख, भ्रान्ति जनित अशान्ति और अज्ञानजनित बन्धन मनुष्य के जीवन को घेरे रहते हैं।

असावधान मनुष्य यदि दुःखों से, अशान्ति से, बन्धनों से बचना चाहता है तो उसे बुद्धि योगी होना चाहिये। बुद्धियोगी ही भोग के परिणाम को देख पाता है।

बुद्धि योग में उस विवेक की प्राप्ति होती है जिससे कि अपने स्वरूप की, अपने प्रेमास्पद की तथा अपने कर्तव्य की स्मृति बनी रहती है।

स्मृति में मानव सावधान है, विस्मृति ही असावधानी है।

साधक को इतना सावधान रहना चाहिये कि अपने स्वरूप की, अपने प्रभु की ओर अपने कर्तव्य की कभी विस्मृति न हो, इसके लिये दृढ़ संकल्प की अपेक्षा होती है।

प्रारब्धानुसार जीवन यात्रा करते हुए अपने प्रति पूर्ण सावधान पुरुष उसी को माना गया है जो देहादिक वस्तुओं के संयोग से उनमें ममता न रखता हो। जो संबंधित व्यक्तियों के साथ कर्तव्य पालन करते हुए अधिकार लोलुपता से रहित हो। सावधान वही है जो समयानुसार ऐश्वर्य वैभव सम्पन्न होकर भी अहंकार अर्थात् कर्तृत्वाभिमान से मुक्त हो।

जगत के प्रति सतत् सावधान पुरुष उसी को समझा गया है जो सभी प्राणियों को प्रभुमय देखते हुए किसी से घृणा न करता हो। किसी को बुरा न समझता हो। किसी का बुरा न चाहता हो। जो किसी के साथ बुराई न करता हो।

अपने परम प्रभु के प्रति निरंतर सावधान उसी को कहा गया है, जो परम प्रभु की सर्वव्यापकता की बात सुनकर ही अपने में उन्हीं की सत्ता स्वीकार करता हो। उन्हीं के प्रति अटूट श्रद्धा और दृढ़ विश्वास रखता हो। उन्हीं से आत्मीयता रखते हुए स्वस्थ शान्त रहता हो।

सावधान पुरुष प्राप्त प्रभु को और प्राप्त ज्ञान को अपना मानता है, अपने लिये मानता है किन्तु मिली हुई वस्तु को अपनी तथा अपने लिये नहीं मानता।

स्वधर्म विवेक में सावधान

धमण हीनः पशुभिः समानः

धर्म को छोड़कर कर्म करने वाला व्यक्ति पशु के समान है। पशु को यह ज्ञान नहीं होता कि धर्म से हीन हूं, इसीलिये उसे धर्मरहित होने का दुःख भी नहीं होता। मनुष्य को ही धर्म परायण पुरुषों की शान्ति, सरलता, धीरता, सत्यता, सौम्यता, सफलता, निर्भयता, प्रसन्नता, स्वाधीनता, दया, करुणा, उदारता, सुशीलता आदि विशेषताओं को देखकर अपने में जब धर्माचार की कमी का दुःख होता है तभी वह धर्म की पूर्णता का प्रयास करता है।

अध्ययन और निरीक्षण से ज्ञात हो सका कि मनुष्य जब तक किसी से सुनकर किसी बात को मान लेता है, विचारपूर्वक परिणाम को नहीं देखता तब तक उसे सत्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, केवल मान लेने से अभिमान ही होता है, स्वीकृति होने से सम्बन्ध जुड़ जाता है किन्तु यथार्थ जानकारी बुद्धि द्वारा ही होती है।

धर्म के विषय में कल्पना करना, भावना भर लेना एक बालक के लिये भी सुगम है, परंतु धर्म का यथार्थ बोध विद्वान के लिये भी कठिन है।

समृतियों में धर्म के कहीं आठ अंग, कहीं दस अंग, कहीं चार प्रकार, कहीं केवल दो प्रकार से ही धर्म की पूर्णता सिद्ध की गयी है।

गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात हो सका कि धर्म के जितने भी लक्षण कोई धारण करता है, उतनी ही अधिक धारणा शक्ति बढ़ती है।

धारण शक्ति द्वारा ही साधक, शक्ति के अधोमुखी विषयासक्तिमय प्रवाह को रोककर जड़त्व से ऊपर उठकर चिन्मयधाम में पहुंच जाता है। कोई साधक धर्म के लक्षणों को छोड़कर साधना में सफल हो ही नहीं सकता।

जो साधक धैर्य नहीं धारण करता, जो क्षमा नहीं कर पाता, जो चोरी का त्याग नहीं कर सकता, जो पवित्र नहीं रहता, इन्द्रियों का निरोध तथा मन को वश में नहीं रख सकता, जो बुद्धि में विचार बल नहीं रखता, विद्याध्ययन नहीं करता, सत्य का आश्रय नहीं लेता, क्रोध को नहीं छोड़ पाता, वही धर्म के

विरुद्ध रहता है, वही शक्तिहीन होकर विनाश को प्राप्त होता है। आलस्य रहित नित्य वेदोक्त कर्म करने वाला स्वधर्माचारी पुरुष परमगति प्राप्त करता है। स्वधर्मानुसार स्वकर्म से परमेश्वर की पूजा होती है। धर्माचरण से, भोगों से, धन से, परिवार से, अनायास ही विरक्ति हो जाती है।

तुम अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा पुत्र पिता पति पत्नी, धनी निर्धन बलवान या निर्बल जो कुछ मान लेते हो उसी के अनुसार तुम्हारा धर्म निश्चित हो जाना चाहिये, तदनुसार ही कर्म करना चाहिये, कर्तव्य पालन करना चाहिये।

यदि अपने को सेवक मानते हो तो लोभ मोह सुखासक्ति आदि को त्याग कर सेवा में ही तत्पर रहना तुम्हारे लिये धर्म है।

यदि अपने को स्वामी मानते हो तो सेवक का भरण पोषण संरक्षण करते हुए उसका हित चाहते रहना स्वामी का धर्म है।

यदि अपने को नेता मानते हो तो मिले हुए तन मन इन्द्रियों पर नियंत्रण रखते हुए जनता को सत्पथ में ले जाना, उसे प्रकाश पूर्ण प्रेरणा देते रहना नेता का धर्म है।

जहां तुम अपने को जीव मानते हो वहीं पर न रहने वाली देह में सदा रहने वाले अविनाशी जीवात्मा के स्वरूप को जानना और परमात्मा की भक्ति प्राप्त करना जीव का स्वधर्म है।

जहां तुम अपने को भक्त मानते हो, वहां भगवान को तत्वतः जानकर उन्हें कहीं भी अपने से भिन्न न मानना नित्य अभिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप का चिन्तन करना भक्त का स्वधर्म है।

जहां तक अपने को किसी से छोटा मानते हो वहां उस बड़े की आज्ञा से सब कर्म करना, सदा अनुशासन में रहना, छोटे मुंह से कभी अभिमानवश बड़ी बातें न कहते हुए आचरण में लाकर बड़े काम दिखाना, सेवा परायण, कर्तव्यनिष्ठ होना छोटे लोगों का कर्तव्य है।

जहां अपने को बड़ा मानते हो वहां छोटों के सामने कोई भी तुच्छ

बात, ओछी बात न करना, कलह क्रोध ईर्ष्या न करना, दुर्व्यसन न करना, प्रत्युत सावधान रहकर सद्धर्म, सद्कर्म, सदाचार, सद्व्यवहार का छोटों को ज्ञान कराना बड़ों का धर्म है। विचार करने वाले पाठक देख लें कि इस प्रकार धर्म परायण मानव कितने निकलते हैं?

यदि अपने को विद्वान मानते हो तो विद्या द्वारा नित्य विद्यमान **सत्तत्व का ज्ञान प्राप्त करना तुम्हारा स्वधर्म होगा।**

यदि अपने को सत्संगी मानते हो तो जहां तक जगत दृश्य है, असत् अनित्य मिथ्या की प्रतीति है, वहां तक अपने को सबसे असंग रखना, अपने में सच्चिदानन्दघन के अतिरिक्त कुछ न स्वीकार करना अर्थात् 'स्व' में ही सत् का अनुभव करना सत्संगी का स्वधर्म है।

स्वधर्म में स्थित रहने के लिये जो कुछ भी अन्य है 'पर' है, उसका विवेक जाग्रत रखना परमावश्यक है। 'पर' के अन्य के संग से 'पर' का धर्म 'स्व' में अपने आप में भर जाता है इसीलिये भगवान ने परधर्म को भयावह कहा है, 'स्वधर्म' को श्रेय कहा है। देह इन्द्रिय मन बुद्धि का संग सब 'पर' का ही संग है। जहां तक नाम रूप का संग है, सब माया मय है।

'स्व' का बोध हुए बिना कोई स्वधर्म में स्थित नहीं हो सकता। भगवान सर्वात्मा परमात्मा होते हुए अपने भक्त को आश्वासन दे चुके हैं कि सब धर्म को छोड़कर मेरी (अन्तरस्थ आत्मा की) शरण जो कोई लेगा उसे मैं सब पापों से मुक्त करूंगा।

संसार में जो मनुष्य अपने वर्ण आश्रम एवं स्वधर्म का ज्ञान ध्यान न रखते हुए भोग के लिये ही कर्म करते हैं, उन्हें संत ने सावधान किया है कि आत्मा को अविनाशी चैतन्य स्वरूप मान लेने मात्र से भय चिन्ता एवं पाप प्रवृत्ति का अंत नहीं होगा। संसार मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है - कहने मात्र से बंधनों दुःखों से छुटकारा नहीं होगा। अपना धर्म पूर्ण है, सत्य है, **आत्मा नित्य शुद्ध मुक्त है - इसकी चर्चा मात्र मनोरंजन ही है। आत्मा जैसा है उसका अनुभव करते हुए मौन रहना ही कहीं-कहीं अपने द्वारा दूसरों को आत्म ज्ञान के लिये सावधान करना है। धर्म चर्चा, आत्मा, अनात्मा की चर्चा से पशु प्रकृति में जाग्रति और आसुरी दानवी प्रकृति में गति और मानवी प्रकृति**

में सद्गति होती है।

सावधान होकर देखने से ज्ञात होता है कि हम सभी साधक कहीं आसुरी प्रकृति को और कहीं पशु प्रकृति को पुष्ट किये बैठे हैं, कहीं कहीं दिखाने मात्र के लिये मानवता को भी सजा रक्खा है। दिव्यता आवरण में है, धर्म ज्ञान द्वारा उसे अनावृत करना है।

अधिकतर हम साधक पढ़-सुनकर अनेकों धर्मों के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेते हैं किन्तु स्वधर्म का ज्ञान नहीं है, क्योंकि 'स्व' का ही ज्ञान नहीं है।

यहां पर सावधान होकर इस सत्य को समझ लेना है कि जो साधक देह इन्द्रिय मन का आश्रय लेकर सुखों का भोगी बन रहा है उसे इस संघात से ऊपर उठकर प्रथम 'स्व' की शरण लेनी होगी, 'स्व' में होकर सत्य परमात्मा की शरण स्वतः ही दिखेगी, वहीं पर साधक असत्संग से मुक्त होकर सत्संगी हो सकेगा।

जिसे बुद्धि मिली है साथ ही विद्या प्राप्त है, तब तो सर्वप्रथम धर्म का विवेक प्राप्त करना प्रत्येक बुद्धिमान विद्वान मानव का कर्तव्य है, परन्तु जहां आसुरी प्रकृति प्रबल है, वहां अहंकार दूसरों से मान पाने के लिये इतना आतुर रहता है कि अपने लिये धर्म विवेक की आवश्यकता को ही भूल जाता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों से अपने लिये तो धर्मपूर्वक सदाचार का ही व्यवहार चाहता है परन्तु दूसरों के सदाचार और अपने जीवन को मुक्त बनाने के लिये धर्म को धारण करना भूल जाता है, यही असावधानी है। विवेकी मानव ही धर्म में सावधान रहते हैं।

जो मनुष्य धन के लोभवश अथवा हानि के भयवश धर्म का आश्रय लेते हैं, जो मृत्यु को निकट देखकर धर्म का आश्रय लेते हैं, जो नर्क के भय तथा स्वर्ग के लोभवश धर्म को आचरित करते हैं, वे लोग स्वधर्म को नहीं जानते इसीलिये सच्चे धर्मनिष्ठ नहीं हो पाते।

जो युवक, जो सेवक, जो विद्यार्थी, जो पुत्र, जो पुत्री या पत्नी अपने से बड़ों का, गुरुजनों का, वेदशास्त्र के ज्ञाता आचार्यों का अनुशासन स्वीकार नहीं करते, उन पर बहुत तुच्छ वस्तुओं एवं व्यक्तियों का शासन चलता रहता है।

वह किसी न किसी के संकेतों में यंत्रवत नाचते हुए देह मन इन्द्रियों की दासता में आबद्ध रहते हैं किन्तु अपने अहंकार के दुराग्रहवश अपनी मूर्खता को देख भी नहीं पाते।

जो स्वधर्म स्वीकार नहीं करता, उसी पर अन्य के धर्म लद जाते हैं। जो मनुष्य धर्म के अनुसार चलकर अपने भीतर धारणा शक्ति नहीं बढ़ा लेता, वही इतना दुर्बल हो जाता है कि अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता।

हमें समझाया गया है कि धर्ममय भोग भोगने से भोगासक्ति छूटती है। अधर्मयुक्त भोग से आसक्ति दृढ़ रहती है।

जो सावधान रहकर धर्मपूर्वक धन नहीं कमाते, वही धन में अधिक आसक्त हैं।

जो अधर्मपूर्वक अधिकार का भोग करते हैं, वही अधिकार के छिन जाने पर भी अभिमानी, पदलोलुप बने रहते हैं।

जो गृहस्थ, धर्म का ध्यान रखकर सबके प्रति अपना कर्तव्य नहीं निभाते वही आजीवन वस्तुओं व्यक्तियों एवं विषयों में आसक्त बने रहते हैं।

संत सावधान करते हैं कि तुम धर्मयुक्त भोजन करो, धर्मयुक्त वस्त्राभूषण ग्रहण करो, धर्मयुक्त ही काम का तथा किसी के मिलन संयोग का सुख भोगो।

किसी को दुःखी करके, किसी का अधिकार छीन करके सुख न भोगो। बिना दी हुई किसी की वस्तु न लो।

अनेकों मनुष्य ऐसे धर्म परायण हैं जो किसी के घर में घुसकर धन नहीं चुराते परंतु कभी कभी दूसरे बाग के फल या किसी के खेत से चना मटर गन्ना आदि खाद्य वस्तुओं की चोरी करने में संकोच नहीं करते, परंतु यह भी अपराध ही है, पाप ही है। वास्तव में भोगी मनुष्य में पशु प्रकृति प्रबल रहती है वह धर्म को नहीं मानती।

आचार्य की धर्म व्याख्या से हमें यह ज्ञात हुआ कि जो धर्म सनातन से अर्थात् अनादि काल से चला आ रहा हो वही सनातन धर्म है।

जो सनातन है, वही सत्य है। अतः धर्म, सत्यमय है और सत्य धर्ममय है। धर्म ही सब कुछ को धारण करता है, उस धर्म की शरण लेने वाले साधक में

धारण करने की योग्यता क्षमता आती है।

जो धर्म को धारण नहीं करता, उसमें शक्ति की गति नीचे ले जाने वाली होती है। जो धर्म का आश्रय लेता है उसमें शक्ति का प्रवाह ऊर्ध्वगामी हो जाता है।

जो धर्म परायण साधक हैं वे काम क्रोधादि के वेग को धैर्यपूर्वक रोकते हैं इसीलिए उनमें सभी दैवीगुणों को धारण करने की शक्ति आ जाती है। तभी वे क्षमाशील, सन्तोषी, विनम्र, कष्ट-सहिष्णु, उदार, दानी, परमात्मा से युक्त होते हैं।

धारणा शक्ति से युक्त साधक भय रहित होता है, इसीलिये वह सद्गति परमगति और अन्त में परमशान्ति प्राप्त करता है। धर्म की पूर्णता, भय की सीमा को पार कर, विचार शून्यता में, शान्ति में है।

आचार्य ने हमें सावधान किया है कि बुद्धि से धर्म को जानते हुए भी अधर्ममय प्रवृत्ति का दमन करो, तुम अध्ययन द्वारा धर्मशास्त्रों से अपने को न भरते रहो। **धर्म के विषय में अधिक जानकारी से अभिमान ही बढ़ेगा। आचरण में धर्म को देखो।**

सावधान रहना! मन से कर्म से वाणी से किसी प्राणी को कभी भी दुख पीड़ा न पहुंचाना - यदि यह व्रत पूरा हो गया तब तो तुम्हें यमालय नहीं देखना होगा।

स्वार्थवश किसी को पीड़ा पहुंचाने के समान पाप नहीं और परहित करने के समान पुण्य नहीं है। हमारे सनातन धर्म में अहिंसा परमधर्म माना गया है। अनेक भेद होते हुए भी जो लक्ष्य में पहुंचा देता है वही तो सनातन धर्म है।

जिससे मनुष्य इस लोक में उन्नति करे और परलोक में मोक्ष प्राप्त हो जाये, वही सनातन धर्म है।

अहिंसा, सत्य, चोरी का विरोध, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, चारों वर्णों का धर्म है।

धर्मात्मा का श्रृंगार है, सदाचार। विवेक द्वारा सदाचार में पूर्णता प्राप्त

होती है।

जो लोग चिल्लाते हैं कि धर्म संकट में है, विनाश के द्वार में है, धर्म खतरे में है - वह धर्म को जानते ही नहीं। किसी मत संप्रदाय मजहब को ही धर्म मान बैठे हैं। वास्तव में धर्म कभी संकट में नहीं है, अधर्म संकट में है। धर्म कभी नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता, अधर्मी नष्ट-भ्रष्ट होता है। धर्म से दुःखों की निवृत्ति होती है, अशांति मिटती है।

धर्म सत्य है उससे जीव ग्लानि करता है, तभी उसे विनाश का दुःख देखना होता है।

धर्म तो सभी वस्तुओं का आधार है, आश्रय है, धर्म ध्रुव सत्य है। धर्म मृत्यु को नहीं प्राप्त होता, वह तो जीवन के साथ ही चलता है।

धर्म में निर्विकारत्व रहता है, इसीलिये दो धर्मात्मा, दो ईमानदार कभी झगड़ा नहीं करते, कहीं नहीं लड़ते।

उस गूढ़तम धर्मतत्व को समझने देखने के लिये लम्बी चौड़ी बुद्धि की अपेक्षा नहीं है, सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। धर्म ही व्यक्तित्व से निज स्वरूप की ओर ले जाता है। धर्म से ही 'स्व' में सत्य का दर्शन होता है।

एक धर्माचार्य ने बताया कि सन्त महात्मा मुनि सिद्ध पैगम्बर के कारण धर्म नहीं समझ लेना, प्रत्युत धर्म के कारण सभी सन्तों मुनियों तीर्थंकरों पैगम्बरों को सत्याश्रय की अनुभूति हुई है। धर्म को ही लेकर यह सब होते आ रहे हैं, सब कुछ के नष्ट विध्वंस हो जाने पर धर्म नष्ट नहीं होता क्योंकि धर्म से ही सब कुछ का अस्तित्व है।

मनुष्य दुःख नहीं आनन्द चाहता है, मृत्यु नहीं अमरत्व चाहता है, बंधन नहीं मुक्ति चाहता है, अज्ञान नहीं सद्ज्ञान चाहता है। वह सब धर्म में ही प्रतिष्ठित है।

धर्म शाश्वत है इसीलिये सत्य है, वह ढक सकता है पर नष्ट नहीं हो सकता। धर्म से कोई विमुख हो सकता है पर खो नहीं सकता है। कोई संप्रदाय कोई व्यक्ति कोई सन्त धर्मदर्शन के लिये प्रेरित कर सकते हैं पर वह धर्म दे नहीं सकते हैं।

वस्तुतः सत्य परमात्मा एक है तो धर्म भी एक ही है। सत्य के लिये

एक ही धर्म है, अनित्य की परिधि में भिन्न-भिन्न वस्तु के भिन्न-भिन्न धर्म हो सकते हैं पर स्वधर्म एक ही है।

यह स्मरण रखने योग्य है कि वस्तुओं के स्वभाव को धर्म कहते हैं, पर सन्त ने यह भी समझाया कि तुम उस धर्म को जानो जो तुम्हारे सब कुछ को धारण कर रहा है। तुम उस धर्म को जानो जो शाश्वत है, जो तमस से ढका हुआ भले ही प्रतीत हो परंतु नष्ट नहीं होता। धर्म से विमुख रहने वाले अहंकार का विनाश होता है परंतु धर्म सनातन रूप में विद्यमान रहता है।

तुम उस धर्म का आश्रय लो जिसमें भक्ति सिद्ध होती है, जिससे निज स्वरूप में स्थिति होती है, जिससे नित्य योग की अनुभूति होती है, जिससे चिरशांति सुलभ होती है।

सन्त कहते हैं कि तुम धर्म को सजाओ नहीं, अन्तरधर्म में स्थिर होकर रहो - यह स्वधर्म अपने लिये हैं किन्तु धर्म को सजा कर दिखाना दूसरों के लिये है, वह भोग का साधन है। तुम उस धर्म को स्वीकार करो जिससे धारण करने की शक्ति प्राप्त होती है।

तुम धर्म को जानो जिससे सत्यदर्शक दृष्टि खुलती है और अज्ञान जनित आसक्तियां मिट जाती हैं, अनायास ही विरक्ति आ जाती है।

एक सन्त कह रहे थे कि जो सनातन धर्म है, जो सबका है, जिससे सब हैं, जो केवल अपने आप में पूर्ण है, वह धर्म न हिन्दू है, न जैन है, न ईसाई है, न यहूदी है, न मुसलमान है। वह एकमात्र सबका धर्म है, उससे ही सब धर्म प्रकाशित हैं। धर्म की सीमाओं में व्यक्ति निर्मित हैं फिर भी सत्याश्रित हैं।

अनेकों धर्मों का ज्ञान मनुष्य को, पण्डितों पुरोहितों एवं तीर्थों तथा पण्डों में होता है परन्तु सत्य सनातन धर्म का ज्ञान आत्मारूपी तीर्थ में बुद्धि स्थिर करने पर होता है - यह तीर्थ बाहर नहीं भीतर 'स्व' के रूप में विद्यमान है। स्व को देखना है तो बाहर नहीं - भीतर चलना है, अन्तर चेतना में उतरना है।

दम्भ पाखण्डादि से सावधान!

हमें सूक्ष्मदर्शी विवेकी गुरुजनों ने समझाया है कि दम्भ पाखण्ड से सावधान रहो।

अपने स्वार्थ पूर्ति के लिये तथा मान प्राप्ति के लिये अनेकों प्रकार के दम्भ पाखण्ड करने पड़ते हैं।

जैसा कुछ नहीं है वह बाहर से दिखाना दम्भ है और जो कुछ भीतर है उसे छिपाना पाखण्ड है।

मान प्रतिष्ठा गुरुपद प्राप्ति के लिये अनेकों दम्भ करने पड़ते हैं, अनेकों प्रकार से आकृति की सजावट, प्रकृति की बनावट दम्भ से ही सिद्ध होती है। साधना के साथ तप त्याग ज्ञान ध्यान के साथ इतने अधिक दम्भ मिल गए हैं कि उन्हें सूक्ष्म बुद्धि से ही जाना जा सकता है।

सन्त ने सावधान किया कि जब तक किसी से मान प्रतिष्ठा की, यश की, नाम की चाह है तब तक दम्भ का सहारा लेना ही होगा।

जब तक दूसरों की दृष्टि में त्यागी, तपस्वी, भक्त मुक्त, महात्मा, सत्यवादी, धर्मात्मा, योगी, विरक्त बनना चाहोगे तब तक दम्भ तुम्हारा सहायक साथी होगा। जब किसी से कुछ न चाहोगे तब दम्भ से पीछा छूटेगा।

दम्भी व्यक्ति दम्भ के द्वारा अपना बहुत अधिक अहित कर लेता है और पाखण्डी के द्वारा समाज का अहित होता है।

जब दूसरों के सामने तुम साधु सन्यासी त्यागी धर्मात्मा दानी बनोगे तब बैठने में चलने में बोलने में सुनने में साधना में वेष धारण में दम्भ आ ही जायेगा।

दम्भ से अपना पतन होता है, पाखण्ड से पाप बढ़ता है। दूसरों से मिलने वाले मान की तथा नाम की चाह छोड़ देने से ही दम्भ से छुटकारा मिलता है।

गुरु निर्देश है कि स्वयं दम्भ-पाखण्ड से दूर रहो और दूसरे दम्भी पाखण्डी जनों से सावधान रहो। कोई दम्भी पाखण्डी तुम्हें तभी धोखा देगा जब तुम्हारे भीतर अपने द्वारा अभिमान लोभादि दोष को जगा देगा।

प्रायः देखा जाता है कि अपनी प्रशंसा सुनकर कुछ लोग जोश आवेश में आकर अनावश्यक धन दे देते हैं, पुनः पश्चाताप करते हैं। सन्त की सम्मति है कि तुम शास्त्र एवं गुरु ज्ञान का आश्रय लेकर किसी को कुछ देते समय सुपात्र की परीक्षा करो, और कुछ लेते समय सद्भाव की परीक्षा करो।

जो कुछ दूसरों से लो, सदुपयोग के लिये और जो कुछ दूसरों को दो, सदुपयोग के लिये सुपात्र को ही दो।

सावधान होकर गुरु विवेक द्वारा निरीक्षण करने पर यह ज्ञात हुआ कि अशिक्षित जन स्वार्थ पूर्ति के लिये झूठ कपट से अपना काम बनाना चाहते हैं। बुद्धिमान जन छलपूर्वक अपनी कामना की पूर्ति करते हैं। जो विद्वान हैं परंतु लोभी मोही अभिमानी हैं वही दम्भ का आश्रय लेकर सम्मान सहित धनप्राप्ति की युक्तियां निकालते रहते हैं।

लोभी में कपट अधिक होता है। कामी में छल अधिक होता है। अभिमानी में दम्भ की अधिकता होती है। अहंकारी में पाखण्ड विशेष पाया जाता है। जो तत्ववित है जो आत्मवित् है वही दम्भ पाखण्ड से रहित हो सकता है।

अहंकार को मान की तृष्णा है, मन में अर्थ पूर्ति की कामना प्रबल है इसीलिये हम जैसे नहीं हैं वैसा दिखाने के लिये और जो कुछ भीतर है उसे छिपाने के लिये दम्भ करना ही पड़ता है।

एक अन्तरदृष्टा अनुभवी दार्शनिक ने हमें बताया कि भले ही तुम अनेकों श्रुति स्मृतियों एवं शास्त्रों का अध्ययन कर डालो, कितना कलात्मक ढंग से प्रवचन द्वारा श्रोताओं को आकर्षित करते रहो, तुम प्रसिद्ध नेता समाज सेवक बन जाओ, चाहे तुम एकान्त तीर्थों में ही क्यों न निवास करते हुए विरक्त साधु सन्यासी उदासी विरागी परमहंस पद से प्रसिद्ध हो जाओ;

जब तक धन की, मान प्रतिष्ठा की, पदाधिकार की अथवा सभी के पूज्यास्पद होने की कामना है या कोई तृष्णा है, तब तक दूसरों की दृष्टि में श्रेष्ठ पूज्य बने रहने के लिये दम्भ करना ही पड़ेगा।

भगवान ने निर्णय दिया कि उसे कुछ नहीं करना होता, जो आत्मा में ही प्रीति करता है, आत्मा में ही सन्तुष्ट है, तृप्त है।

एक सन्त ने समझाया कि तुम सीधा काम क्रोध लोभ अभिमान आदि दोषों को छोड़ना चाहो तो प्रयत्न करके देख लो, इनकी जड़ें भीतर बनी ही रहेंगी। यदि जड़ से निवृत्ति चाहते हो तो आत्मा को जानो, आत्मा में ही प्रीति करो।

हम साधकों को गुरुजन सावधान करते रहते हैं कि जब कभी दूसरों के साथ झूठ बोलना पड़े, जहां कहीं छल करना पड़े, तब अपने भीतर दोष की खोज करनी चाहिये। जब तक दूसरों के द्वारा कुछ पाने का लालच रहता है, तब तक हानि का भय भी साथ ही लगा रहता है; इसी लालच ओर भय के कारण उठने में, बैठने में, कुछ लेने में या देने में, कुछ सुनने में और दूसरों को सुनाने में, अपने शरीर को सजाने में, अपने को दूसरों के सम्मुख मनोनुकूल बनाने में, नाना प्रकार के दम्भ करने पड़ते हैं।

जो जितना अधिक बुद्धिमान विद्वान होता है, उतनी ही चतुरतापूर्वक सम्पत्ति तथा सम्मान प्राप्त करने के लिये दम्भ करता है। सद्गुरु की कृपा बिना दम्भ करते हुए भी अपनी हानि का ज्ञान नहीं होता।

हम साधकों को सावधान रहकर दम्भ पाखण्ड से बचते रहना है, यदि कहीं दिखाई दे तो साहसपूर्वक त्याग करना है।

गति दर्शन में सावधान

सावधान बुद्धिमानों को ही गति प्रगति दुर्गति उन्नति सद्गति परमगति का विवेक होता है।

गति को देखकर ही प्राणी के जीवन का परिचय मिलता है। जहां

शक्ति होती है वहीं गति दीखती है।

जिसमें किसी के द्वारा गति होती है वह यन्त्र है। जो गति का दृष्टा है वही स्वतन्त्र है।

जिससे शक्ति का ह्रास, अन्त में विनाश और घोर त्रास होता है, वही दुर्गति है।

जिससे शक्ति का विकास, हृदय में सद्गुणों का वास, ज्ञान का प्रकाश होता है, वही सद्गति है।

जिससे सुखोपभोग में विरक्ति, आत्मा में अनुरक्ति, परमात्मा में भक्ति दृढ़ होती है, वही परमगति है।

जहां इन्द्रियों का संयम है, शरीर द्वारा श्रम है, ज्ञान वृद्धि के लिये निरालस्य अध्ययन है, निष्काम मन है, वहीं प्रगति होती है।

जिसे जीवन के लक्ष्य का ज्ञान है, सदाचरण का ध्यान है, जो निरभिमान है, कर्तव्य पालन में सावधान है, उसी की उन्नति होती है।

मंगलमय प्राकृतिक विधान से जीव की गति स्वतः होती है। खनिज पदार्थ वनस्पति में गति पाते हैं, वनस्पति वर्ग की पशु आकृति में गति होती है, पशु मनुष्य की सेवा से सम्बन्धित होकर मानव आकृति में गतिशील होता है, इसी क्रम से मनुष्य शरीर द्वारा जितने अंशों में दूसरों की सेवा पूर्ण होती है उतने ही अंश में मनुश्य उत्कृष्ट भोग सामग्री तथा धन-बल, जन-बल, बुद्धि-बल से संयुक्त होता है। यह मानव की प्रगति है।

जब मनुष्य अनेक प्रकार के बलों का भोग करते हुए बलों का अभिमानी बनता है तभी बल का सदुपयोग होता है।

अहंकार, अभिमान, प्रमाद से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तभी बल के दुरुपयोग से दुर्गति होती है। दुर्गति से दुःखी होकर मनुष्य पुनः दीनतापूर्वक दुःख से बचने के लिये हृदय से प्रार्थी दीन बनता है, तभी प्रभु के मंगलमय विधान से साधु सज्जन का संग सुलभ होता है।

साधु संग, श्रद्धा, सद्विचार, सत्कर्म, सेवा त्याग प्रेम के द्वारा मानव सद्गति प्राप्त करता है।

गुरुजन उन्नति चाहने वालों को छः प्रकार के दोषों से बचते रहने के लिये सावधान करते हैं– (१) अमर्यादित निद्रा (२) तन्द्रा (बैठे-बैठे ऊंधते रहना) (३) भय (४) क्रोध (५) आलस्य (६) कोई कार्य देर लगा कर करना। यह दोष उन्नति में बाधक हैं।

हमें समझाया गया है कि यदि तुम उन्नति चाहते हो तो–

१– श्रद्धा विश्वास के साथ नित्य देवार्चन वन्दन करो।

२– कर्तव्य पालन में, सेवा व्रत में तपस्वी बनो अर्थात् कष्ट सहिष्णु बनो। प्रतिकूलताओं को सहना तपस्या है।

३– गुरु की सेवा करते हुए ज्ञान प्राप्ति के लिये सतत् सावधान रहो।

४– इन्द्रियों को विषय भोग के लिये कहीं चंचल न होने दो, संयम में रक्खो।

५– श्रुति स्मृति गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करो।

६– जो कुछ तुम्हें दूसरों से पाकर सुख मिलता है, वही तुम भी शुद्ध रूप में दान करो।

सन्तों से मैंने यह भी सुना है कि तुम्हारी शक्ति से सम्पत्ति से योग्यता से जितना अधिक दूसरों का हित होगा, उतना ही तुम्हारा जीवन तृप्त शान्त स्वस्थ होगा।

जितना अधिक तुम्हारे द्वारा दूसरों का अहित होगा, किसी को दुःख होगा, उतना ही अधिक तुम्हें दुःख देखना होगा। जो कुछ तुम दूसरों के साथ शुभ या अशुभ करोगे, वही कई गुना बढ़ कर तुम्हें अपने प्रति देखना भोगना होगा।

हमें यह भी बताया गया है कि असावधान रहकर कुसंग में पड़ कर जिस इन्द्रिय विषय को जितनी अधिक बार दुहराओगे उतना ही अधिक उसका अभ्यास बढ़ जायगा, पुनः कभी उसका दुष्परिणाम भोगते हुए उस शब्द स्पर्श रूप रसादि विषय को या व्यसन को छोड़ना चाहोगे तब उसका छूटना अति कठिन होगा; इसीलिये कुसंग छोड़ कर सज्जन का, साधु जनों का संग करो। विषय व्यसन का अभ्यास न बढ़ने दो। प्रगति उन्नति सद्गति चाहते हो तो

व्यर्थवार्ता में, भविष्य की चिन्ता में, आलस्य में समय नष्ट न करो। प्रमाद में शक्ति का दुरुपयोग न करो। सदा सेवा में, श्रम में संलग्न रहो।

जो प्राणी जितना अधिक कामी क्रोधी लोभी तथा अभिमानी होता है, मिली हुई शक्ति सम्पत्ति द्वारा उतना ही अधिक दुर्गति देखता है।

हमें यह भी ज्ञात हुआ कि प्राकृतिक विधान से मिलने वाला दुःख प्राणी के लिये सर्वत्र मंगलमय है।

सन्त की सम्मति है कि अपने आप आने वाले दुःख का भोग देखते हुये उसका सदुपयोग करो। दुःख का सदुपयोग यही है कि जिस चाह की अपूर्ति से दुःख हो रहा है अथवा जिस सुखभोग के छिन जाने से दुःख हो रहा है उस चाह का, उस सुख की कामना का त्याग कर दो। इस त्याग से सुख की दासता ही समाप्त हो जायगी।

सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त करना प्रगति है। सुखभोग में मर्यादा बांधने से उन्नति होती है, सुखभोग की शक्ति सम्पत्ति द्वारा सेवा करने से सद्गति होती है। सेवा के फल वे विरक्त होने तथा परमेश्वर में अनुरक्ति होने से परमगति होती है।

अहंता ममता आसक्ति के त्याग से शान्ति प्राप्त होती है। हमें बताया गया है कि यदि तुम सद्गति चाहते हो तो- (१) श्रम संयम और समुचित सात्विक आहार द्वारा तन को बलवान बनाये रहो। (२) विद्या प्राप्त करो। (३) साधु सज्जन का संग करते रहो। (४) बुद्धि में विवेक बढ़ा लो। (५) शक्तिदाता देवताओं की आराधना न भूलो। (६) हृदय को प्रीतिमय बनाये रहो। (७) परस्पर दया क्षमा उदारता सरलता सन्तोष आदि सद्गुणों का ही बर्ताव करो। (८) सेवा त्याग प्रेम की पूर्णता के लिये दृढ़संकल्प करो। (६) अहंकृति से बचने के लिये सर्वत्र प्रभु की दया कृपा का अनुभव करते रहो। (१०) अपने आप को जड़ देह मय न मान कर चैतन्य मय जानो।

सन्त ने यह भी समझाया है कि तुम्हारी उन्नति सद्गति में विविध भेदभाव बाधक हैं। भेद रहते भय दूर हो ही नहीं सकता। भेद रहते काम का नाश नहीं होता। भेद के रहते हुए संग्रह की रुचि रहती है, धन की मान की, अधिकार की तृष्णा का आधिपत्य रहता है।

अध्ययन द्वारा ज्ञात हुआ कि झूठ बोलना, पराई निन्दा करना, कठोर वचन बोलना, व्यर्थ वार्ता में समय नष्ट करना, हिंसा करना, चोरी करना, व्यभिचार करना, किसी को तुच्छ नीच मान कर अकड़ कर चलना, अन्याय से दूसरे का धन लेना, अनिष्ट चिन्तन करना, ईश्वर को न मानना, अपने आप को आत्मा को न जानना–यही सब पाप हैं– इन पापों में से कौन कौन पाप अपने में भरे हुए हैं– उनका निरीक्षण करना और उनके त्याग का संकल्प करना विवेकी साधक का पुरुषार्थ है।

जिससे उदारता नम्रता प्रसन्नता आदि सद्गुण बढ़ें, वही पुण्य है। जिससे भय लोभ मोह खेद दुर्गुण बढ़ें, वही पाप है।

यह भी गुरु आदेश है कि अपने शारीरिक तथा मानसिक सुखों के लिये अनुकूलता का पक्ष न लो और जहां कहीं प्रतिकूलता प्रतीत हो वहां उत्तेजना के क्षणों में सावधान रहो। आवेश में आकर उत्तेजित होकर किसी को कटु वाक्य न कहो, किसी का अपमान न करो।

उत्तेजित व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उस समय नहीं कहने योग्य वाक्य कह जाता है, नहीं लिखने योग्य लिख जाता है, जो नहीं करना चाहिये वह कर जाता है और उसक परिणाम भोगते हुये पश्चाताप करता है।

विवेकी गुरुजन उस व्यक्ति को चरित्रहीन दुर्बल तथा दया का पात्र मानते हैं, जो शिक्षित होते हुये भी सहिष्णु तथा सुसंस्कृत नहीं है, वही उत्तेजनों के क्षणों में शान्त नहीं रह पाता।

हमारे धर्माचार्यों ने समझाया है कि यदि तुम धार्मिक उन्नति चाहते हो तो मन के चार पापों से सावधान रहना। कदाचित कभी न करने योग्य कर्म करने के लिये मन आतुर हो उठे अथवा दूसरे का अनिष्ट चिन्तन होने लगे या दूसरे की वस्तु हरण करने का संकल्प उठे और कहीं पर स्त्री का चिन्तन होने लगे तो समझ लेना कि मन पापों से घिर रहा है। सावधान होकर इन पापों से बचते रहना है।

जिसका मन पाप से घिर जाता है, वही तन से हिंसा करता है, अभक्ष्य भक्षण करता है, व्यभिचार करता है और पराये धन का हरण करता है।

जो असावधान रह कर मन से तथा तन से पाप करता है, वही वाणी से झूठ बचन बोलता है, कठोर तथा अमंगल वचन बोलता है, पराई निन्दा करता है।

शास्त्रवित् सन्त सावधान करते हैं कि तुम वाणी से पापों का त्याग कर पुण्य करते हुए धर्म को सर्वोच्च बनाओ। शरीर से पापों का त्याग करके धर्म द्वारा सद्गति प्राप्त करो और मानसिक पापों का त्याग करके मन से पुण्य करते हुए धर्म को स्थिर बनाओ।

सन्त का कहना है कि क्रोध से सावधान रहना– यह धर्म को आच्छादित कर देता है। शोकाकुल व्यक्ति नाना प्रकार के पापों में प्रवृत्त होता है। **कोई साधक कभी किसी पर अपना अधिकार न माने, किसी से अपने प्रति अनुकूलता न चाहे, अपने को बड़ा श्रेष्ठ ज्ञानी ध्यानी तपस्वी त्यागी मान कर अहंकार न करे तो क्रोध नहीं आ सकता।** परन्तु अहंकार की निवृत्ति तभी होती है, जब अनन्त चिद्घन तत्व में इस अहंकार की सीमा का ज्ञान होता है।

एक सन्त की अनुभूति है कि नियम के विरुद्ध जो साधक स्वल्पाहारी नहीं, मितभाषी नहीं है, जो विषयासक्त है, रूपासक्त है, मोही है लोभी है अभिमानी रागी द्वेषी है, वह सद्गति प्राप्त नहीं कर सकता।

भू लोक में जीव जिस प्रकार के उत्तम मध्यम निकृष्ट व्यक्तियों का संग करता है, तद्नुसार ही अनुभवों का भण्डार लेकर दूसरे लोक में जाता है और आगे मिलने वाले जन्म में अपने आदर्श की सिद्धि के लिये अनुकूल शक्ति लेकर लौटता है, इसीलिये साधक को संत का संग करना चाहिये।

गुरु अनुभूति ने यह निर्णय दिया है कि अपनी अभिलाषाओं, इच्छाओं, वासनाओं की पूर्ति का पक्ष लेते हो तो सावधान होकर ही लो, क्योंकि उसका परिणाम तुम्हारे सामर्थ्य पर पड़ेगा।

तुम अनित्य विनाशी क्षणिक सुखद वस्तुओं व्यक्तियों के बार-बार चिन्तन को न दुहराओ क्योंकि उसके परिणाम में वैसा ही स्वभाव बन जायेगा।

तुम केवल शुभ अनुष्ठान करो क्योंकि उसका परिणाम क्रिया पर पड़ेगा। इसी प्रकार दैनिक भुक्तियों का परिणाम ज्ञान में और सन्ताप युक्त भुक्तियों का परिणाम विवेक में पड़ेगा।

आत्म अज्ञान सब पापों अनर्थों का मूल है। आत्मा के न जानने तक जो आत्मा नहीं है उससे सम्बन्ध जोड़ लेने पर ही काम क्रोध लोभादि दोषों की पुष्टि होती है। दुःख से बचने के लिये सुख को सुरक्षित रखने के लिये अगणित कर्म किये जाते हैं। कर्म द्वारा पाप पुण्य बनते हैं, उन्हीं पापों के द्वारा प्रतिकूल परिस्थिति और पुण्य द्वारा अनुकूल परिस्थिति सुलभ होती है। परिस्थिति के सदुपयोग से सद्गति और दुरुपयोग से दुर्गति होती है।

सन्त सावधान करते हैं कि विवेक के बिना तुम परिस्थिति का अर्थात् मिली हुई वस्तुओं का तथा सामर्थ्य का एवं योग्यता का और दुःख सुख का सदुपयोग कर ही नहीं सकते, अतः विवेकपूर्वक ही सब कर्म करो। यह भी देख लो यदि वस्तु का लोभ है, अर्थात् धन का मूल्य अधिक बढ़ा दिया है या सम्बन्धियों से मोह है, सुखभोग की कामना प्रबल है तब विवेक पूर्वक कर्म करना दुष्कर होगा। विवेक भी प्रभु की कृपा से ही मिलेगा।

एक सन्त ने हमें समझाया कि मनुष्य की सबसे बड़ी असावधानी यही है कि पाप का ज्ञान होते हुए भी दूसरों के साथ पाप करता रहता है और पुण्य का एवं भलाई का ज्ञान होते हुए भी दूसरे के प्रति पुण्य एवं भलाई नहीं कर पाता।

दूसरों के साथ जो भला या बुरा कर्म किया जाता है उसका शुभ या अशुभ फल कर्ता को ही भोगना पड़ता है–यह जानते हुए भी प्रायः मनुष्य कर्म करते हुए सावधान नहीं रहता। प्रमादवश सुखासक्तिवश दूसरों के साथ बुरा व्यवहार कर बैठता है, छल कपट क्रोध निन्दा ईर्ष्या द्वेष हिंसा करते हुए उसके अनिवार्य परिणाम भोग को भूला रहता है।

हर मनुष्य के सामने कभी सुखद, कभी दुखद परिस्थिति आती ही है। असावधान व्यक्ति परिस्थिति का भोगी बनता है और सावधान साधक सुखद दुःखद परिस्थिति का सदुपयोग करता है। सेवा करते रहना सुखद परिस्थिति

का सदुपयोग है। दोषों का त्याग करना दुःखद परिस्थिति का सदुपयोग है।

सन्त ने समझाया है कि सावधान रहकर वर्तमान को विवेक पूर्वक तुम सम्हाल लो तो भविष्य स्वतः ही भगवान के विधान से सम्हल जायेगा।

यदि वर्तमान में हो सकने वाले सत्कर्म तथा कर्तव्य को सम्हालने में प्रमाद किया और भूतकाल की बातों का मनन तथा भविष्य काल में जो कुछ होगा–उसका चिन्तन करते रहे तब तो भविष्य कदापि सुन्दर न होगा। इसीलिये नित्य प्राप्त परमात्मा का वर्तमान में अनुभव करो, अभिन्न स्वरूप का स्मरण वर्तमान में ही करो और जो कुछ वर्तमान में कर सकते हो, उस कर्तव्य को पूर्ण करने में असावधान न रहो।

यह भी गुरु सम्मति है कि वर्तमान में सावधान होकर अपने भविष्य को सुन्दर बनाने के लिये अधिक से अधिक सेवा के अवसर खोजते रहो, अध्ययन और गुरुजनों के संग द्वारा कर्तव्य का पुण्य का स्वधर्म का ज्ञान प्राप्त करो।

यह भी सन्त निर्णय है कि जो साधक अपने पुरुषार्थ में सावधान है, वह दरिद्र नहीं रहते। जो ईश्वर चिन्तन में सतत सावधान हैं उनसे पाप नहीं बनते। जो प्रतिकूल विवाद में मौन धारण के लिए सावधान हैं वह कलह में नहीं पड़ते। जो परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य पालन में सावधान हैं वह निर्भय रहा करते हैं।

जो अपने आप को सब ओर से समेट कर केन्द्र में शान्त है, उस संयम के द्वारा ही शक्ति संचित होती है। जो मन में वाणी में दृष्टि में अर्थात् इन्द्रियों में संयम नहीं रख पाता वही असावधान है। संयमी ही सावधान है।

यह भी सावधान होकर समझ लो। प्रायः हम सबके जीवन में बन्धन दुःखदायी हैं किन्तु कहीं बन्धन सुखदायी भी हैं, हितकारी हैं। एक सन्त से मैंने सुना था कि जिस बन्धन से जीवन में रक्षा होती है, वह रक्षा-बन्धन हितकारी है। बड़ों की, गुरुजनों की आज्ञा का बन्धन, धर्म मर्यादा का बन्धन लिए हुए, एक पति पत्नी व्रत का बन्धन, सात्विक आहार विहार व्यवहार का बन्धन, अहिंसा तथा सर्वत्र सत्य का पक्ष, सभी प्रकार की चोरी का विरोध, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच व्रतों का बन्धन भी जीवन की सुरक्षा करता है। इन

सभी प्रकार के सुरक्षा बन्धनों से जीव के दुःखद बन्धन छूट जाते हैं।

जो मानव आसुरी बन्धनों से मुक्त होने के लिये उपरोक्त दैवी सम्पत्ति के बन्धनों को स्वीकार करता है, उसी को सावधान समझना चाहिए।

सावधान होकर अन्तःकरण अशुद्ध होने की खोज करोगे तब पता चलेगा। प्रायः हम लोग परस्पर शास्त्रों के बड़े-बड़े प्रश्न सुलझाते हैं। योग ध्यान समाधि के विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं परन्तु नित्य के व्यवहार में वस्तुओं व्यक्तियों के संयोग उपभोग द्वारा नित्य काम क्रोध मद मोह लोभ पुष्ट होता रहता है; परस्पर मान के शब्द सुन कर, अपनी कीर्ति सुनकर अपने भीतर गर्व बढ़ता है तथा अपनी वेषभूषा से अपने वाक्यों से दूसरों पर कितना अनुचित प्रभाव पड़ता है - यह नहीं देख पाते हैं। गुरु निर्देश है कि जब कभी तुम्हें धन लाभ का हर्ष हो रहा हो तभी सावधान होकर देखो। मन में लोभ को नष्ट करने के लिये उसी समय लाभ के कुछ अंश को किसी दुखी की सहायता में या दान में खर्च कर दो।

जब तुम कभी नया भवन बनवाओ तब लोगों को आमन्त्रित करके भवन को दिखाते हुए मन में अभिमान न बढ़ने दो - विचार करो कि किसी दिन इस भवन से, यह शरीर निकाला जायेगा।

यदि सावधान हो तो भवन से शरीर निकाला जाने के प्रथम ही मन से उस भवन को निकाल दो। विरक्त बनो। अपनी बड़ी बड़ी कामनाओं की पूर्ति का सुख भोगते हुए किसी अभाव पीड़ित की छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति करते रहो।

हम सावधान होकर यह भी विचार कर रहे हैं कि इन वाक्यों को सहस्त्रों श्रीमान धनवान विद्वान पढ़ेंगे परन्तु उन सहस्त्रों पढ़ने वालों में से ऐसा कौन साहसी वीर पुरुष होगा जो अभिमान बढ़ाने वाली वेषभूषा में सादगी लायेगा। ऐसा कौन हृदयशाली विचारक होगा जो इन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर अपने लाभ का अंश दीन दुखी की सहायता में लगायेगा?

ऐसा कौन पुण्यवान होगा जो अपने संकल्प की पूर्ति के लिये एक लाख का भवन बनवाने वाला इन सावधान वाक्यों से प्रेरित होकर दस हजार के दो छोटे भवन बनाकर किसी सुपात्र को दान देगा? पढ़ेंगे समझेंगे हजारों

व्यक्ति परन्तु सावधान होकर कर्तव्य पालन करने वाले कोई विरले ही निकलेंगे।

सद्गति से किसी प्रकार की चोरी करना भी महान बाधा है। हमने चोरी का अर्थ मान रक्खा था किसी की वस्तु बिना पूछे छिपकर उठा लेना चोरी है परन्तु गुरु विवेक ने समझाया कि जो प्राणी सब कुछ के दाता परमेश्वर को भूलकर देहादिक वस्तुओं का लोभी मोही अभिमानी बना हुआ है वह बहुत बड़ा चोर है।

सांसारिक वस्तुओं की चोरी करने वाले को संसार में ही सजा मिलती है, वह सजा कुछ समय में समाप्त हो जाती है परन्तु परमात्मा को भूलकर उससे मिली हुई वस्तुओं पर अधिकार जमाने वाले को ऐसी सजा मिलती है जो अनेकों जन्मों तक चलती ही रहती है।

हमें सावधान किया गया है कि जब तक मन में वस्तुओं का लोभ है, व्यक्तियों से मोह है, दूसरों पर या वस्तु पर अधिकार का अभिमान है तब तक समझना चाहिए कि जीव बेड़ियों से बंधा हुआ लोक लोकान्तरों में घूम रहा है, वह दण्ड से मुक्त नहीं है।

इस दण्ड से मुक्ति तभी समझनी चाहिये जब लोभ मोह अभिमान आदि बन्धन छूट जायें।

अच्छे अच्छे प्रसिद्ध विद्वान श्रीमान कहे जाने वाले पुण्यवान भी जब असावधान रहकर परिग्रही (संग्रही) बन जाते हैं अथवा जो वस्तु किसी को देने के लिये लेते हैं, किन्तु उसे दे नहीं पाते - इस प्रकार के प्रतिग्रही भी चोर हैं।

वह यज्ञाध्यक्ष भी चोर ही है जो यज्ञ के नाम पर एकत्रित किये गये धनधान्य को याज्ञिक ब्राह्मणों को दान न देकर उसे बचाकर किसी अपने संकल्प की पूर्ति के लिये रख लेता है। वह भी सावधान नहीं है।

जो मनुष्य अस्तेय व्रत पालन के लिये सावधान नहीं है, वह चाहे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हो या डाक्टर वकील वैद्य पदाधिकारी जनरक्षक हो, चाहे वह विरागी उदासी सन्यासी वेष में उपदेशक आचार्य गुरु हो- किसी प्रकार की चोरी करते हुए अशान्त अवश्य ही होगा।

कम नापने वाला, कम तौलने वाला, वेतन लेकर पूरा श्रम न करने वाला, झूठ बोलकर छुट्टी लेकर व्यर्थ बैठने या घूमने वाला, दूध घी तेल अन्न में मिलावट करने वाला, आवश्यकता से अधिक संग्रह करने वाला - यह चोर ही हैं।

सभी नास्तिक चोर हैं। जो अपने साथ अपना करके कुछ भी नहीं मानते सब कुछ सृष्टि के रचयिता से मिला हुआ जानकर उसी की आज्ञानुसार सदुपयोग करते हैं, वही साधु चोरी से रहित हैं।

चोरी करना एक मानसिक रोग है, यह रोग उन्हीं को होता है जिनका आहार-विहार व्यवहार अशुद्ध है। इस रोग की उत्पत्ति अज्ञान से होती है और इसकी दवा सद्गुरु वैद्य से ही मिला करती है।

सन्त सावधान करते हैं कि यदि तुम जीवन में दुःखरूपी दण्ड नहीं भोगना चाहते हो तो चोरी करना छोड़ दो। यदि चोरी से बचना चाहते हो तो बुद्धि को मन को वाणी को तन को विचारों भावों एवं कर्मों से पवित्र बनाओ। **यदि तुम तन वाणी मन बुद्धि को शुद्ध रखना चाहते हो तो ारीर को सतोगुणी शीघ्र पाचक आहार दो। रूक्ष बासी कडुवा खट्टा गरिष्ठ भोजन न करो।**

वाणी से सत्य प्रिय हितकर वचन बोलो। कभी झूठ न बोलो, परनिन्दा न करो, कठोर वचन न बोलो। व्यर्थ वार्ता व्यंग वाक्य न बोलने के लिये सावधान रहो।

गुरुजन सावधान करते हैं कि तुम प्रयत्न पुरुषार्थ में ही न व्यस्त रहो बल्कि प्रयत्न में भूल कहां है? जो कुछ तुम मानते हो उसमें भ्रान्ति कितनी है? जो कुछ जानते हो उसमें अज्ञान क्या है – इन तीनों का विवेक प्राप्त करो।

भूल भ्रान्ति अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही तुम्हारा करना, मानना, जानना सार्थक होगा।

सावधान होकर देखो! साधन की कमी नहीं है। प्रत्युत साधनों के सदुपयोग की कमी है। क्षेत्र की कमी नहीं, वरन व्यवस्था की कमी है। प्रयत्न पुरुषार्थ की कमी नहीं है, लक्ष्य के ज्ञान की तथा प्राप्त के ध्यान के ओर सदाचार की कमी है।

समस्त शारीरिक मानसिक प्रतिकूलताओं को सहने में सावधान रहो।

सहन करने से अर्थात् अन्तर एवं वाह्य तप से समय के प्रथम ही कर्म का बन्धन कटता है।

ज्ञानी का ही तप अन्तर शुद्धि लाता है, अज्ञानी का नहीं। अहंकार और आत्मा के बीच में अविद्या, मोह, तृष्णा का सागर लहरा रहा है– इसे पार करने के लिये सन्त जन साधकों को सावधान करते हैं। नित्य प्राप्त परमात्मा से एकता की अनुभूति ही हम साधकों का पुरुषार्थ है।

किसी ने प्रश्न किया कि कोई धोखे से हमें हानि पहुंचाये तो उसके प्रति क्या व्यवहार करना चाहिये? एक उत्तर था– उसे भी धोखा देना चाहिये, दूसरा उत्तर था– अपने भाग्य का भोग समझकर सन्तोष करते हुए आगे के लिये सतर्क रहना चाहिए और न्यायाधीश से न्याय कराना चाहिये, तीसरा उत्तर था– धोखे से होने वाली हानि के पीछे जो अपने को दुःख हो रहा है, उसका कारण कोई न कोई अपना ही दोष है उसकी खोज करना चाहिए।

कोई धोखा देकर किसी को तभी ठगता है जब उसमें कोई कामना अथवा लोभ प्रबल होता है। जो लोभ उससे पाप करवाता है वही लोभ दूसरे को हानि के अवसर पर दुःख देता है। जो लाभ से प्रसन्न हो रहा है, वह लोभी है और जो हानि से दुःखी हो रहा है वह भी लोभी है।

सावधान होकर देखने से ज्ञात होता है कि सबसे अधिक धोखा तो अपने भीतर ज्ञान के अभिमान से होता है। सर्वोपरि धोखा मोही लोभी कामी क्रोधी मन से होता है। **मनुष्य अपनी इन्द्रियों से नित्य ही धोखा खाता रहता है, अपने साथ रहने वाले आलसी शरीर से जितना धोखा होता है उतना किसी विरोधी व्यक्ति से नहीं होता।**

मैंने सन्तों की वाणी में पढ़ा था कि यदि धोखे से बचना चाहते हो तो दूसरों के साथ विश्वासघात न करो। निन्दक की बात अपने कानों में पड़ते ही अधिक कुछ न सुनने के लिये सावधान हो जाओ।

यदि धोखे से बचना चाहते हो तो सदा के लिए किसी अन्य पर निर्भर होकर न रहो, किसी को अपने ऊपर निर्भर न रहने दो। सदा के लिए किसी की प्रीति पर यह विश्वास न रक्खो कि वह एक समान तुम्हें चाहता ही रहेगा।

तुम धनी मानी पदाधिकारी जनों से तथा मांगने वाले भिखारियों आवारा बालकों से सावधान रहो। यदि धोखा नहीं खाना चाहते हो तो कामी या कामिनी के प्रेम से तथा कुत्ता से सांड़ से शराबी से भी सावधान रहो।

तुम धोखा न खा जाओ, इसलिये दूकानदार की बातों को कानों से सुनते हुए आंख से देखने के लिये सावधान रहो, अपनी प्रशंसा करने वाले से अपने सामने किसी की बुराई करने वाले से भी सावधान रहो। तुम विरक्त वेष में बालयोगी बाल तपस्वी से भी सावधान रहो। चमत्कार दिखाने वाले वाचाल सिद्ध से भी सावधान रहो।

सावधान वही मानव हो सकता है जिसकी स्मृति और प्रज्ञा शुद्ध होगी। जो मनुष्य विषयासक्त होता है जिसमें धन की मान की सुखोपभोग की तृष्णा प्रबल रहती है उसकी स्मृति प्रज्ञा शुद्ध नहीं रहती। प्रज्ञावान मानव नित्य प्राप्त सत्य का अनुभव करता है, स्मृतिवान मानव जहां जो कुछ करना है उसके लिये सावधान रहता है।

स्मृति तथा प्रज्ञा उन्हीं को प्राप्त होती है **जो साधक यम नियम संयम का पालन करते हैं।**

हम सभी साधकों को यम नियम संयम को पूर्ण बनाने के लिये सावधान रहना चाहिये। इन तीनों अंगों को छोड़कर कोई साधक बुद्धि में ब्रह्म ज्ञान भर ले, तप त्याग भजन करने वालों का वेष बना ले, समाज की दृष्टि में तपस्वी त्यागी भक्त कहला कर पूजा प्रतिष्ठा गुरुपद भी प्राप्त कर ले परन्तु भीतर शान्ति नहीं मिलेगी। दम्भ द्वारा कुछ काल तक अनुकूलता भले ही सुलभ होती रहे, अंत में तो जो कुछ भी संसार से मिलेगा वह छिन ही जायेगा किन्तु संग का प्रभाव साधक के साथ रह जायेगा।

सावधान रहना! तुममें जो भी ईश्वरीय गुण हों उनका भोग न करना, उनके द्वारा दूसरों की सेवा करना। सद्गुणी कहला कर मान तथा धन लेकर उनका भोग करने से दोषों की वृद्धि होती है।

एक सन्त ने मुझसे कहा कि अपने को अभी देखो! तुम निरन्तर वर्तमान में ही हो परन्तु तुम्हारा मन रागवश भूत का मनन या भविष्य की चिन्ता में संलग्न हो तो उसका साथ छोड़ो। तुम शाश्वत सत्य, सनातन अमृत

में हो पर मन विषय विष में रमण करता हो तो उसे साक्षी होकर देखते रहो। मन को रोकने की धुन में न रहो, केवल देखते रहो। तुममे प्रभु की शक्ति है, मन में माया की शक्ति है।

अपने को संयम में, नियम में रखने के लिये सतत सावधान रहो! क्योंकि संयम से ही सफलता की और नियम से संरक्षण की शक्ति सुलभ रहती है किन्तु **अभिमान और काम संयम नियम के शत्रु हैं,** इनसे असावधान न रहना।

इस सत्य को स्मरण रखना– मानवता के माने हैं संयमी जीवन। दानव में पशु में संयम का विवेक नहीं होता। स्व में ही शांत एवं तृप्त रहना सर्वोच्च संयम है।

शास्त्र में कहीं पांच प्रकार के कहीं दस प्रकार के यम नियम का वर्णन किया गया है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, कृपा आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार, शौच – यही दस प्रकार के यम हैं।

पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर की भक्ति, दान, देव पूजा, सिद्धान्त श्रवण, मति होम – यही दस प्रकार के नियम हैं।

धारण ध्यान समाधि – यही संयम है। यम नियम संयम के द्वारा ही योग सिद्ध होता है।

यम नियम संयम का पालन वही मानव कर सकता है जिसमें बड़ों के प्रति पूज्य भाव हो, गुरुजनों में श्रद्धा हो, श्रम में उत्साह हो, सदाचार मय प्रवृत्ति हो, धर्म एवं ईश्वर में आस्था हो विश्वास हो।

यम नियम संयम को वही साधक पूर्ण कर पाता है जो मानवता में दिव्यता के अवतरण की प्रबल अभिलाषा रखता है। यम नियमादि की पूर्णता में पशु प्रकृति आसुरी प्रकृति का कुछ अंश भी शेष रहेगा तो बाधा डालता रहेगा।

एक सन्त के प्रवचन में मैंने सुना था कि जो कुछ भी मनुष्य को देह इन्द्रियां मन बुद्धि शक्ति सम्पत्ति आदि वस्तु मिली हैं उनका सदुपयोग न करना असावधानी है। अतः हम सब साधकों को मिले हुये के सदुपयोग के लिये सदा

सावधान रहना चाहिये। परन्तु सावधान रहने के लिये जिस बुद्धि एवं विवेक की आवश्यकता है वह प्रभु की कृपा से ही प्राप्त होना सम्भव है और वह कृपा साधक को चाहने मात्र से ही सुलभ होती है।

प्रायः हम अनेकों साधक सुखासक्ति वश धन मान एवं भोग सामग्री चाहते हैं, इनकी कमी से व्याकुल होते हैं परन्तु प्रभु की कृपा से जो श्रद्धा उदारता सरलता विनम्रता सहिष्णुता क्षमा दया करुणा त्याग प्रेम आदि दैवी सम्पत्ति सुलभ होती है उसे नहीं चाहते। हम दैवी गुणों के लिये व्याकुल नहीं होते, इन गुणों की कमी का भी अनुभव नहीं करते, यही बड़ी असावधानी है।

सन्त की सम्मति है कि जिस प्रकार संसार में धन मान भोग सामग्री तथा सुखद संयोग की याचना करते हो, उसी प्रकार परम प्रभु से दैवी सम्पत्ति की याचना करो।

दमन में सावधान

परमार्थ सिद्धि के लिये आचार्य ने साधक को षट सम्पत्ति युक्त होना अनिवार्य बताया है।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान– यही छः साधक की सिद्धि में सहायक सम्पत्तियां हैं।

मन के लिये शम अर्थात् शान्त होना आवश्यक है। इन्द्रियों द्वारा विषय पथ में प्रवाहित शक्ति के प्रवाह को रोकने के लिये दमन अत्यावश्यक है।

हम अनेकों साधक शम पर ध्यान न देते हुये दमन के लिये अधिक प्रयत्न करते हैं। अविवेक पूर्वक स्वच्छन्द दमन का परिणाम साधक के लिये प्रायः बहुत ही अनिष्टकारी होता है जिसे हर एक साधक गुरु कृपा बिना समझ ही नहीं पाता और साधना से ही निराश होने लगता है।

हमें समझाया गया कि शमन के बिना दमन अहंकार को पुष्ट करता है। अहंकार की प्रबलता में ही दमन के लिये जोश रहता है, होश नहीं रहता। दमन का सम्बन्ध पशु प्रकृति से है, शमन का सम्बन्ध आसुरी प्रकृति से है।

पशु को बांध लेना दमन है किन्तु पशु बंधा ही रहे तो जब कभी खुलने

पर बहुत आपदा ला सकता है।

सन्त की संगति से समझ में आया और प्रत्यक्ष देखा कि जो साधक हठपूर्वक इन्द्रियों का दमन तथा मन का निरोध करते हैं, उनकी बुद्धि में अवश्य ही गुरुज्ञान की अथवा प्रभु के प्रति प्रेम की न्यूनता रहती है इसीलिये ऐसे साधकों के जीवन में संघर्ष अधिक रहता है और किसी भी समय पतन की संभावना बनी ही रहती है।

जो साधक आचार्य सद्गुरु के सन्निकट रहकर साधना नहीं करते, उनका त्याग तप एवं दमन अविवेकपूर्वक प्रायः अधूरा ही रहता है।

तमोगुणी साधक के दमन में क्रोध तथा अभिमान प्रबल रहता है, रजोगुण प्रधान साधक में लोभ एवं काम सबल रहता है, सतोगुणी साधक के दमन में ज्ञान तथा प्रेम की प्रधानता रहती है।

अविवेकी साधक सर्वांग दमन नहीं कर पाते। वे नमक छोड़ते हैं तो मिठाई खाने लगते हैं, अन्न छोड़ते हैं तो कई बार फलाहार के लिये मन चंचल रहत है। रसना का दमन करते हैं तो नेत्रेन्द्रिय वश में नहीं कर पाते। एकान्तवास करते हैं तो घोर मनोराज्य में बंधे रहते हैं। तपस्वी बनते हैं परन्तु भीतर से राग नहीं छोड़ पाते। शरीर एकान्त आसन में होता है, मन में अनेकों वृत्तियां उठती रहती हैं।

दमन के साथ ही जिस साधक के शम सम्पन्न शान्त मन में दान वृत्ति सबल रहती है उसी का दमन उन्नति में सहायक होता है।

दमन से जिस शक्ति का संचय होता है यदि उस शक्ति का सदुपयोग दान के द्वारा नहीं होता तभी उसका भोग में दुरुपयोग होता है।

सन्त ने सावधान किया है कि जो कुछ शम दम उपरति तितिक्षा का संकल्प करो उसके प्रथम गुरु विवेक का आश्रय अवश्य लो।

विवेक द्वारा ही दमन के साथ दान करते रहने की प्रवृत्ति पूर्ण होती है। दान का अर्थ केवल धनधान्य देते रहना ही नहीं है। दान उसी का हो सकता है जिसका भोग किया जाता है। किसी भी प्रकार की शक्ति दमन के द्वारा संचित होने पर उससे शुभ संकल्प पूर्ण होने दो। शुभ संकल्प वही माने जाते हैं

जिनसे आत्महित होता है, समाज का हित होता है। जिससे किसी अहित होता ही नहीं और जिसकी पूर्ति प्रभु कृपा से होती है, वही शुभ संकल्प है।

किसी अवस्था में दमन से शक्ति बढ़ती है, साधक की गति में तीव्रता आती है परन्तु जो दमन की शक्ति कहीं सहायक है वही बाधक भी है।

हमें एक सन्त ने सावधान किया है कि दमन करना– अपने भीतर वासना कामना को दूसरों की दृष्टि में छिपा लेना है। दमन से मुक्ति नहीं मिलती, अहंकार बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है। वास्तव में जो सावधान साधक हैं, वह वासना कामना को छिपाता नहीं है, दबाता नहीं है, मिटाता है।

दमन से कामना वासना दब जाती है, आत्मा के ज्ञान से वह मिट जाती है। सन्त की सम्मति है कि वासना कामना का न दमन करो न भोग करो– उनका ज्ञान प्राप्त करो। काम क्रोध लोभ मोह ईर्ष्या द्वेष के साथ अपने को न मिला कर उन्हें तटस्थ होकर देखो। अपने को दुखी सुखी न मानो, दुख सुख की सीमाओं को, उनके कारण को जानो। दुःख सुख के भोगी न बनो, प्रत्युत दृष्टा बनो।

एक आचार्य का निर्णय है कि दमन ऊपर से सुन्दर शक्तिप्रद दीखता है परन्तु भीतर निर्बलता से घिरा हुआ रहता है।

किसी भी साधना के द्वारा मन के निरोध तथा इन्द्रियों के दमन से जो शक्ति संचित होती है, उससे मन के संकल्प पूरे होते हैं। लोभ मन में धन प्राप्ति का संकल्प उठता है, मोही मन में प्रिय संयोग प्राप्ति का तथा कामी मन में कामना पूर्ति का अथवा संयोग के इच्छित भोग का संकल्प प्रबल होता है।

दमन द्वारा संचित शक्ति के रहते यदि काम या क्रोध का वेग उठता है तो शक्ति बांध टूट कर उसी वेग की धारा बन जाता है, इसीलिये अनुभवी आचार्य सावधान करते हैं– स्वच्छन्द होकर कोई साधना चलाने की अपेक्षा किसी के अनुशासन में रह कर गुरु आज्ञा लेकर सब कुछ करो।

सबसे पहले गुरु के निकट होकर संसार का इतना विवेक प्राप्त कर लो कि धन से मान से संयोग से भोग से वैराग्य हो जाये।

सावधान रहना! वैराग्य वही उत्तम होगा जब परम प्रभु के प्रति प्रेम हो जाये।

प्रेम की प्रधानता में वैराग्य होता है और तत्व ज्ञान की प्रधानता में त्याग होता है। वैराग्य रहित त्याग में दम्भ अभिमान छिपे रहते हैं। रागासक्ति रहते दमन अज्ञानी ही करते हैं। विराग होने पर प्रेमी को दमन करना नहीं पड़ता उसकी इन्द्रियां स्वतः ही वश में रहती हैं, क्योंकि उसकी प्रीति प्रेमास्पद प्रभु से होती है, अन्य सुख के लिये बचती ही नहीं।

भीतर विषय-सुखों के प्रति आसक्ति के रहते इन्द्रियों का दमन दूसरों को दिखाने अथवा दूसरों से कुछ पाने के लिये सहस्त्रों साधक करते हैं, परन्तु ऐसा दमन विकारों को भीतर दबा देता है निकाल नहीं पाता है।

जो दमन करता है वह अभिमानी है जो अपने में अनायास दमन देखता है वही आत्मा का ज्ञानी है और जिसे दमन की आवश्यकता ही नहीं रहती, वह भक्त प्रेमी है।

देहाभिमानी दूसरों की देखा-देखी जब दमन करता है तब उसके मन में कठोरता वाणी में कटुता अहं में गर्व बढ़ता जाता है। उसे दूसरों की दृष्टि में दृष्टि रहती है इसीलिये ऊपर से अपने को दम्भ द्वारा सजाता है भीतर का सब कुछ छिपाता है; क्योंकि अपने को देख नहीं पाता है। हम साधकों के लिये यह गुरु सन्देश है कि सर्वप्रथम विवेक पूर्वक अपने को जानो, जो कुछ भी अचेतन है, जड़ है, उसका मूल्य न बढ़ाकर, अपना मूल्य बढ़ाओ। सन्त ने समझाया है कि वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर व्यक्तियों का अनादर न करो, फिर आगे व्यक्तियों का मूल्य बढ़ाकर, उनके मोही बनकर, गुरुज्ञान का अनादर न करो, तुम गुरुज्ञान के द्वारा निरभिमानी होकर 'स्व' को जाना, 'पर' को अपना न मानो। 'स्व' को किसी अन्य के साथ मिला कर सत्य से परमात्मा से विमुख न बनो।

परमात्मा में अपने को अनुभव करते हुए असत् से, अनित्य से असंग रहकर शरीर के इन्द्रियों के मन के बुद्धि के भोक्ता न बनकर दृष्टा बनो। दृष्टा होने पर स्वतः ही व्यर्थ कथन, व्यर्थ श्रवण, व्यर्थ भ्रमण, व्यर्थ मनन, व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ विचार, व्यर्थ कर्मों की निवृत्ति हो जायेगी।

जब तक 'स्व' का सत्य का विवेक नहीं होता है तब तक 'स्व के ज्ञान के लिये ही इन्द्रियों का दमन मन की वृत्तियों का निरोध विचारों का शमन करते रहो और सावधान रहो! लक्ष्य की विस्मृति न हो जाये।

हिंसा से सावधान

जीवन में परम शान्ति अथवा मुक्ति एवं भक्ति प्राप्त करने के लिये कितने ही उपाय किये जांय– जब तक हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं हो जाता तब तक साधक को सिद्धि सुलभ नहीं होती।

हम किसी जीव को मारना ही हिंसा मानते थे, परन्तु संतों से संग से ज्ञात हुआ कि तन से वाणी से मन से स्वेच्छा से, परेच्छा से अनिच्छा से असावधानी से हिंसा होती रहती है। उसका परिणाम जाने अनजाने हम सबको भोगना ही पड़ता है। इसी हिंसा का त्याग करने वाले अहिंसाव्रती को परम धर्मात्मा माना गया है।

मनुष्य जितना तन से मन से भोगी होता है, उतना ही अधिक हिंसा बनती है और जितनी अधिक हिंसा होती है उतना ही अधिक प्रत्येक भोगी तन से तथा मन से रोगी होता है।

एक संत कह रहे थे कि प्राचीन काल में इच्छा क्षुधा बुढ़ापा– यह तीन रोग विशेष रूप से मनुष्य को कष्ट देते थे, पर अब हिंसा के कारण रोगों की संख्या बढ़ती ही जा रही है, उनकी गणना करना कठिन है।

मैंने यह भी सुना है कि जगत के लिये, समाज के लिये, परिवार के लिये जो कुछ आवश्यक है उस पर अधिकार किये रहना, उसे अपना मानते रहना अनेकों प्रकार की हिंसा का मूल कारण है।

जिन्हें वेद शास्त्र एवं गुरु परम्परा द्वारा धर्म का यथार्थ ज्ञान है जो दूरदर्शी परिणामदर्शी हैं उनकी सम्मति के विरुद्ध स्वच्छन्दतापूर्वक कर्म करना भी हिंसा है।

जो अविवेक पूर्वक कामना पूर्ति के लिये आतुर रहता है, वह भी हिंसक होता है।

धन की, मान की, सुखोपभोग की तृष्णा के रहते बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती, मन अचंचल नहीं हो पाता, चित्त शान्त नहीं रहता इसीलिये हिंसा का त्याग नहीं हो पाता।

जो आत्मा में ही तृप्त नहीं है, आत्मा में ही जिसकी प्रीति नहीं है, आत्मा में ही जो सन्तुष्ट नहीं है, वह भी परावलम्बी होने के कारण स्वार्थवश हिंसा से बच नहीं पाता।

जो स्वार्थवश भेदभाव बढ़ाता है, परस्पर द्वेष पैदा करता है वह हिंसक है।

एक संत के मत से हिंसा ही प्राणी को हिंसक बनाती है। जो मनुष्य तन से मन से किसी की हिंसा करता है वह अपने लिये हिंसक तैयार कर रहा है।

मनुष्य द्वारा जिन पशुओं की हिंसा होती है वे पशु अपना शरीर छोड़ते समय मनुष्य की आकृति देखते हैं इसीलिये वे सभी जीव मनुष्य शरीर धारण करते हैं।

यह प्राकृतिक विधान है कि शरीर छोड़ते समय भय से, स्नेह से, द्वेष से, जो आकृति मूर्ति जीवात्मा की अन्तर्चेतना में बस जाती है उसी आकृति में वह जन्मता है, देह धारण करता है।

मनुष्य द्वारा मारे गये प्राणी भय से व्याकुल होकर मनुष्य रूप का चिन्तन करने से उसी रूप में आ जाते हैं परन्तु उनकी प्रकृति में पशु प्रवृत्ति भरी रहती है इसीलिये वे जीव मनुष्यों के साथ विरोध, द्वेष, आघात ही करते रहते हैं। वर्तमान काल में शिक्षा की अधिकता होते हुए भी मानवता के विपरीत पशु प्रकृति की प्रधानता दीखती है क्योंकि अधिकांश में मानव आकृति में पशु प्रकृति के ही जीव अपनी पूर्ति कर रहे हैं।

जो हिंसा का त्याग नहीं करता, शीघ्र ही उसमें मानवता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

एक संत कह रहे थे कि दूसरों के प्रति बुरे भाव तथा बुरा विचार मात्र हिंसा है।

कामी लोभी अभिमानी मोही अहिंसा व्रत को पूर्ण नहीं कर पाता।

पूर्ण अहिंसक मानव में प्राणिमात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव हो जाता है।

जिसमें जितनी दया है, उतनी ही अहिंसाव्रत की पुष्टि होगी। किसी को किसी प्रकार कभी न सताना, कभी दुःख न देना, किसी प्राणी को न मारना अहिंसा है। इस प्रकार की अहिंसा संसार के भोगों से विरक्त किसी मुनि में ही पाई जाती है।

हमें समझाया गया है कि कदाचित धर्म, धन, जन की रक्षा के लिये आतताई दुष्टों असुरों पशुओं को मारना व्यवस्थापक संरक्षक अधिकारी के लिये आवश्यक होता है, किन्तु सावधान रहना! व्यक्तिगत जीवन को पाप से अधर्म से बचाने के लिये हिंसा का पूर्णतया त्याग करना आवश्यक होता है क्योंकि अपने लाभ के लिये, सम्मान के लिये दूसरों की हानि करना अपमान करना भी हिंसा है।

कामना ही हिंसा की जड़ है। अतः सावधान होकर साधक को कामना का त्याग करना ही होगा।

जितनी हिंसा शरीर से वाणी से मन से होगी उतनी अधिक क्रूरता कठोरता बढ़ेगी ओर जितनी क्रूरता कठोरता बढ़ेगी उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ेगी, हिंसा से जीव का घोर पतन हो जाता है।

जो अपना उत्थान नहीं चाहता वह भी आत्मघाती हिंसक माना गया है, अतः हमें सावधान रहकर ऐसा कुछ करना ही नहीं चाहिये जिससे अपना अकल्याण हो।

वास्तव में कोई तत्ववित् आत्मवित् पूर्णत्यागी पूर्णप्रेमी ही अहिंसा व्रत को पूर्ण कर पाता है।

एक विचारक ने सावधान किया है कि अहिंसा वहीं तक धर्म है जहां तक अन्यायी आततायी को हिंसा करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता, इसलिये हमें यह भी समझ लेना है कि ब्रह्मचारी के अहिंसा व्रत में, गृहस्थ के अहिंसात्मक कर्तव्य में, वानप्रस्थ के अहिंसामय तप में, और सन्यासी की अहिंसात्मक

धारणा के अनुसार सामयिक आचरण में अंतर रहा करता है।

इन्द्रिय निग्रह, जीव दया, क्षमा के साथ अहिंसा मिल कर चार पुष्प के समान हैं - इन पुष्पों से प्रभु प्रसन्न होते हैं।

अज्ञान के कारण प्रलोभन एवं विकार प्रबल रहते हैं, अज्ञान के कारण हिंसा होती है।

अहिंसा के विवेचन में जहां एक चींटी को मारना हिंसामय पाप बताया है, वहीं पर किसी के घर में अग्नि लगाने वाले, विष देने वाले, छिप कर हथियार से मारने वाले, धन अपहरण करने वाले, स्त्रीहरण करने वाले– यह छः आततायी हैं, इन्हें घोर दण्ड देने से हिंसा का पाप नहीं लगता। चाहे वह गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो, ब्राह्मण हो, विद्वान हो– कोई भी आततायी हो उन्हें उचित दण्ड करने की आज्ञा स्मृतियों में दी गई है।

यहां पर सावधान होकर यह भी समझ लेना है कि आततायी को वध करने की सामर्थ्य जिसमें है उसे ही अधिकार है। अधिकार के अनुसार आततायी का वध कहीं स्वयं किया जा सकता है, कहीं कराया जा सकता है, कहीं समझाया जा सकता है।

किस प्रसंग में परिस्थिति में किसका क्या कर्तव्य है? इसका निर्णय शास्त्रों के जानने वाले अथवा न्यायाधीश ही कर सकते हैं इसीलिये हमें शास्त्रवित् आचार्यों द्वारा कर्तव्य का विवेक प्राप्त करना चाहिये।

अपने सुख के लिये किसी प्राणी को दुःखी नहीं करना अहिंसा है।

भगवान व्यास के वचनों से हमें सावधान हो जाना है– उनका कथन है कि सर्वकाल में सब प्रकार सब प्राणियों के प्रति चित्त में भी द्रोह न करना अहिंसा है।

जो सावधान है, दुर्बल है, डरपोक है, कायर है, नपुंसक है, वह हिंसकों की हिंसा बढ़ाने में भागीदार है।

जो वध किये हुये बैलों तथा काटी कई गौ जाति के चमड़े की बनी हुई वस्तुओं का उपयोग करता है, वह भी हिंसा में भागीदार है।

जो धन के लोभवश गाय भैंस के दूध बेचने वाले घोसियों का दूध लेता है (जिनके बच्चे अपनी मां का दूध न पाकर प्रायः मर जाते हैं या फिर भूख से व्यथित होकर चल नहीं पाते) उस दूध का सेवन करने वाला भी हिंसा पाप में सहायक है।

संत सावधान करते हैं कि हिंसा से बचने के लिये तुम मन से, वाणी से, कर्म से, किसी को भी दुख न पहुंचाओ। यदि पशु पालते हो तो उनको भूख प्यास से कभी दुखी न होने दो, उन्हें अनावश्यक दण्ड न दो। यदि तुम्हारे अधिकार में दमन की शक्ति हो तो किसानों को पशुओं के मारने के लिये लाठी, लोहे की कील लगी छड़ी न रखने दो, छीन लो।

अहिंसा से जितने पुण्य बढ़ते हैं, उतने दान तपस्या तीर्थ सेवा और जप से भी नहीं बढ़ते। अहिंसा को साथ लेकर सब कुछ सुफल दायक होता है।

हमें आचार्य ने सावधान किया है कि प्रत्येक आश्रमी को अपना जीवन निर्दोष बनाने के लिये अहिंसा व्रत में तत्पर रहना चाहिये।

एक संत ने समझाया कि संसार में जन्म लेने के साथ जो कुछ भी मिला है, मिल रहा है उसे अपना मानने वाला; जिस दाता से मिला है उसे भूल कर उन वस्तुओं का स्वामी बनने वाला मनुष्य हिंसक है। क्योंकि जो मनुष्य मिली हुई देहादिक वस्तुओं को अपनी मानेगा, वह मोही लोभी अभिमानी बनेगा ही और किसी न किसी अंश में लोभ मोह अभिमान कामवश हिंसा होगी ही, अतः सच्चा आस्तिक ही अहिंसक हो सकता है।

आस्तिक वही है जो परम प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपना नहीं मानता, सबको प्रभुमय और प्रभु को सर्वमय जानता है।

उमा जो रामचरन रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध।।

परमार्थी

जीवन सफल है जग में उन्हीं का, परमार्थ पथ में जो आ रहे हैं।
वह धन्य है जो मन को विरागी, हृदय अनुरागी बना रहे हैं।।
वह मुक्त होंगे बन्धन दुखों से जो त्याग पायेंगे दोष अपने।
वे हैं अभागी जो तन में धन में आसक्ति ममता बढ़ा रहे हैं।।
कुछ भी न पायेंगे वे जगत में, जगत के पीछे जो दौड़ते हैं।
यह जग न उनको पकड़ सकेगा जो जग से आशा हटा रहे हैं।।
उन्हीं के सब काम पूरे होंगे जो काम आते हैं दूसरों के।
उन्हीं को सर्वोपरि पद मिलेगा जो चाह सारी मिटा रहे हैं।।
बड़ा आदमी उसी को कहिये किसी से जो कुछ न चाहता हो।
वहीं हैं दाता जो लेने वालों के नित्य ही देते जा रहे हैं।।
वही हैं स्वाधीन नित्य निर्भय हैं जिनके वश में मन और इन्द्रियां।
'पथिक' परम तृप्त अपने ही में जो अपने प्रियतम को पा रहे हैं।।

कर्तार को कोई क्या जाने

गति मति जग व्योपार में, कर्तार को कोई क्या जाने।।

कारण कार्य कहां से आया, किस प्रकार कब विश्व बनाया।
विधि प्रपंच विस्तार में, निस्तार की कोई क्या जाने।।

जहां कुशल मति थाह न पाती, बुद्धि विलक्षण चुप हो जाती।
प्रकृति विकृत व्योहार में, सरसार को कोई क्या जाने।।

जग के अति सुविशाल सदन में, भ्रमित जीव के करुण रुदन में।
प्रभु बिन विनय पुकार में, उद्धार की कोई क्या जाने।।

रोते को किस तरह हंसाते, सोते को किस तरह जगाते।
दुखियों के उपचार में, शुचि प्यार को कोई क्या जाने।।

गिरा हुआ किस भांति चढ़ा है, रुका हुआ किस तरह बढ़ा है।

करुणा पुनरुद्धार में, उपकार की कोई क्या जाने।।

मेरे प्रियतम चिदानन्दघन, सर्व प्रकाशक सबके जीवन।
प्रतिपल 'पथिक' विचार में, आधार की कोई क्या जाने।।

दुखों से अगर चोट खाई न होती, तुम्हारी प्रभु याद आई न होती...

दुखों से अगर चोट खाई न होती।
तुम्हारी प्रभु याद आई न होती।।
जगाते न यदि तुम गुरु ज्ञान द्वारा।
कभी हमसे कोई भलाई न होती।।
कहीं भी हमें चैन मिलती न जग में।
शरण यदि परम शान्तिदायी न होती।।
सदा बन्द रहतीं ये आंखें हृदय की।
जो अपनी खबर तुमसे पाई न होती।।
दयासिन्धु तुमको समझ ही न पाते।
समय पर जो लज्जा बचाई न होती।।
किसी का कहीं भी नहीं था ठिकाना।
तुम्हारे यहां जो सुनाई न होती।।
'पथिक' ऐसे पापी भी कैसे सुधरते।
तुम्हीं ने जो बिगड़ी बनाई न होती।।

लिये चलो सत पथ में...
...शक्तिमान लिये चलो।

लिये चलो सत पथ में शक्तिमान लिये चलो।
अधःपतित जीवन को हे महान लिये चलो।।
हर लो हे ज्योतिर्मय मेरा अज्ञान तिमिर,
जिससे शुभ गति मति हो चंचल चित्त हो सुस्थिर।
देकर हे करुणामय दिव्य ज्ञान लिये चलो।।
मिट जायें अंतर के सब दुर्दमनीय दोष,
प्रभु-प्रदत्त सद्गुण से हो मम निष्कलुष कोष।
मिल जाये हमको भी प्रेम दान लिये चलो।।
वह बल दो जिससे मैं तृष्णा को सकूं त्याग,
जग के नश्वर सुख में रह जाये कुछ न राग।
उसी तरह जैसा कुछ हो विधान लिये चलो।।
हे मेरे जीवनेश तुम से ही है पुकार,
अब तो जिस भांति बने भवदुख से करो पार।।
'पथिक' पूर्व पापों पर दो न ध्यान लिये चलो।।

यदि समझ सको तो यह समझो क्यों भूले विश्व विपिन में तुम।
इतना दुख पाकर भी अब तक सुख खोज रहे हो किन में तुम।।

कितना ही घूमो फिरो कहीं, जो कुछ दिखता है सत्य नहीं।
अपने को न जानने तक ही मोहित हो महामलिन में तुम।।

इस सृष्टि वीथियों में सुन्दर, आकृतिमय पुष्प खिले मनहर।
पर कण्टक भी उनके सग में, रस लेने जाते जिन में तुम।।

जिनको तुम कहते हो सुखमय, वे दीखेंगे इक दिन दुखमय।
जिनके प्रलोभनों में फंसकर फिरते हो गलिन-गलिन में तुम।।

जग में कुछ अपना मत जानो, जगदीश्वर को अपना मानो।
जो तुम्हें छोड़ते जाते हैं, क्यों अटक रहे हो उनमें तुम।।

निश्चित है मृत्यु निशा आना, खोकर यह समय न पछताना।
ऐ 'पथिक' सत्य का अन्वेषण अब कर लो दिन ही दिन में तुम।।

ॐ

प्रार्थना के लिये सावधान

सुसंग के प्रभाव से बने हुए संस्कारानुसार हम बाल्यकाल से ही जिस प्रकार अपने निकट संबंधियों से कुछ न कुछ मांगते आये हैं उसी प्रकार परमेश्वर से भी अधिक शक्ति के लिये, सम्पत्ति के लिये, सम्वृद्धि के लिये प्रार्थना करते आये हैं।

सन्त के सुसंग से हमें यथार्थ की प्रेरणा मिली। वास्तव में वाणी द्वारा कुछ गद्यात्मक या पद्यात्मक शब्दों को निश्चित समय में कहते रहने से ही प्रार्थना पूर्ण नहीं होती।

जो कुछ हम कर सकते हैं उसे स्वयं न करते हुये जब प्रभु से कराना चाहते हैं तब हम कर्तव्यनिष्ठ प्रार्थी नहीं माने जायेंगे।

प्रार्थना दुःखी हृदय की सहज पुकार में पूर्ण होती है। प्रार्थना में जिस एकाग्रता की आवश्यकता है, वह सब ओर से निराश होने पर ही आती है। शक्ति को लेकर मन की गति चंचलता में परिणत होती है। गति में स्थिरता आना ही एकाग्रता है जिस शक्ति से गति का आरम्भ होता है उसी में गति क अन्त होता है।

प्रार्थना के द्वारा अनन्त शक्तिमान में जब प्रार्थी का मन अपनी पूर्ति के लिये एकाग्र होता है, तब उसे दया, कृपा का अनुभव होता है।

प्रार्थी में सर्व समर्थ प्रभु के प्रति पूर्ण आस्था, श्रद्धा, विश्वास और क्षण-क्षण पूर्ति की प्रतीक्षा होना आवश्यक है।

विशेष कष्ट के अवसर पर, किसी संकट के समय जब अपना बल काम नहीं देता, तब सर्व समर्थ दुःखहारी हरि से प्रार्थना करना चाहिये।

कोई साधक परम प्रभु से निरंतर संबंध जोड़ना चाहता है परन्तु जोड़

नहीं पाता, संसार के संबंधों को तोड़ना चाहता है परन्तु तोड़ नहीं पाता। ऐसी मन की स्थिति में दीन दुःखी होकर परमप्रभु से ही प्रार्थना करने की सम्मति संत देते हैं।

जब हम किसी व्यक्ति से कुछ चाहते हैं तब उस व्यक्ति के सामने जाना होगा। जब हम कोई वस्तु चाहते हैं तब वस्तु की प्राप्ति के लिये विधिवत् कर्म करना होगा क्योंकि वस्तु तथा व्यक्ति अपने से भिन्न हैं वह प्रार्थना मात्र से प्राप्त न होगी।

जब हम सर्व समर्थ प्रभु से कुछ चाहते हैं अथवा प्रभु को ही चाहते हैं तब हमें कहीं जाना या कुछ कर्म करना आवश्यक नहीं होगा, तब तो केवल प्रार्थना करना और उत्तर की उत्कृष्ट प्रतीक्षा करना आवश्यक होगा क्योंकि परमप्रभु से दूरी नहीं है, अभिन्नता है, साथ ही उनमें जड़ता नहीं है नित्य प्राप्त चिन्मयता है।

हम परमप्रभु में रहते हुए भी उनसे विमुख हैं केवल उन्हें सब ओर व्यापक समझ कर उनके सम्मुख होना है, आंखों से न दीखने पर भी बुद्धि द्वारा उनकी नित्य प्राप्ति पर विश्वास करना है और उन्हीं के समक्ष प्रेमपूर्वक प्रार्थी बनना है।

विश्वासपूर्वक प्रार्थना द्वारा परमप्रभु से संबंध स्थापपित होता है। हम वस्तु व्यक्ति को अपना मानकर उससे संबंधित होकर वस्तु के लोभी तथा व्यक्ति के मोही और उससे प्रतीत होने वाले सुख के कामी बन चुके हैं, अब परमप्रभु से संबंध जोड़ कर उन्हीं के ज्ञानी तथा प्रेमी हो सकते हैं।

विवेकी साधक उसे अपना मानता है जिसका कभी भी संग नहीं छूटता।

जिसका कभी संग न छूटे, जो अपने को कभी न छोड़े, जो निरंतर मिला रहे, वही नित्य प्राप्त प्रभु है, उसी प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये।

वे जन कितने असावधान हैं जो भगवान को मानते हुए, संतों गुरुजनों से सत्कथा सुनते हुए, गीता उपनिषद आदि अपने धर्म ग्रंथों का अध्ययन करते हुए भी प्रिय संबंधी के शरीर न रहने पर उसी आकृति का बार-बार स्मरण

करते हुए रोते-बिलखते हैं, उसी को पुकारते हैं - जो सर्वज्ञ नहीं, सर्वशक्तिमान नहीं, अपने अनुकूल सदा रह सकता नहीं।

सन्त का यह संदेश है कि तुम उसे ही पुकारो, उसी की शरण लो, उसी से याचना करो, उसे ही अपना मानो जो तुम्हारे कहने के प्रथम ही सब कुछ जानता है, जिससे ही तुम्हें सब कुछ मिलता आया हैं, जिसका विधान मंगलमय है वही प्रभु एकमात्र तुम्हारा अपना है, सब कुछ उसी का है।

जो मिलता है और छूट जाता है, वह सत्य नहीं है।

अविवेकी भोगी की प्रार्थना में धन, मान, भोग की मांग रहा करती है, विवेकी साधक की प्रार्थना में सेवा, त्याग, प्रेम की पूर्णता के लिये श्रद्धा, दया, क्षमा, उदारता, निष्कामता, सद्विवेक एवं प्रीति आदि दैवी सम्पत्ति की अभिलाषा रहा करती है।

हम साधकों को अपनी प्रार्थना में सदा सावधान रहकर दैवी गुणों की, दिव्य ज्ञान की, एवं निष्काम प्रेम की ही याचना करना है।

हमें प्रार्थना के समय अपने अहं के पीछे अखंड चैतन्य स्वरूप में वृत्ति को शान्त करना होगा क्योकि प्रार्थना का उत्तर बाहर से नहीं आता, वह तो अन्तरात्मा परमात्मा से ही आता है।

बाहर अगणित नाम रूप मय अनेकता का अनन्त विस्तार दीखता है अन्तर चेतना में बुद्धि स्थिर होने पर अखण्ड परमतत्व की अनुभूति होती है अथवा स्व में ही सत्य का बोध होता है।

हर एक प्राणी सुखासक्ति वश जब कभी सुखद वस्तु तथा किसी प्रिय व्यक्ति के संयोग के लिये अधीरतापूर्वक व्याकुल होता है, रह रह कर उसी की उत्कृष्ट प्रतीक्षा करता है, तब उसके हृदय की वह लालसा, उत्कृष्ट कामना ही अनजाने याचना बन जाती है और प्रकृति के विधान से अदृश्य नियमित क्रम से उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है।

मनुष्य के सामने जो कुछ लाया गया है, जहां उसे पहुंचाया गया है, जो कुछ पाकर, देखकर वह अत्यधिक हर्षित हो रहा है, वह सब उसे प्राकृतिक विधान से मिला है और किसी समय की याचना के फल रूप में मिला है, किन्तु

जिससे मिला है उसका हर एक को ज्ञान नहीं है, इसीलिये अज्ञानी मिले हुए को अपना मान लेता है, दाता को भूल जाता है, इस भूल के कारण ही उसे किसी दिन प्रतिकूलता का तथा वियोग का, हानि का, अभाव का दुःख भोगना पड़ता है।

सुख के अन्त में दुःख तो सभी प्राणी भोगते हैं पर पशु पक्षी दुःख के कारण की तथा दुःख निवृत्ति के उपाय की खोज नहीं करते, केवल बुद्धिमान विवेकी मनुष्य ही दुःख के कारण को, दुःख निवृत्ति के साधन को एवं सिद्धि और साध्य के स्वरूप को जानते हैं।

हमें यह भी समझाया गया है कि प्रभु कृपा से प्राप्त सन्तसंग से यदि तुम्हारी मति शुद्ध हो रही है तो सम्यक प्रकार से समझ लो कि तुम्हें जो यह देह मिली है, इन्द्रियां मिली हैं, मन मिला है, बुद्धि मिली है, चित्त मिला है, जो ज्ञान मिला है, प्रीति मिली है - सब कुछ अनन्त के विधान से मिला है। आगे जो कुछ भी तुम्हें मिलेगा उसी से मिलेगा इसलिये सावधान होकर निर्णय करो कि जीवन के लिये, अपने लिये तथा दूसरों के लिये क्या-क्या आवश्यक है? जो जो हितकर हो, शुभ हो वहीं मांगो।

अविवेक वश अभी तक धन मान तथा भोग सामग्री चाहते हो तो अब दया क्षमा उदारता श्रद्धा विवेक आदि दैवी सम्पत्ति के लिये प्रार्थना करो। जो संकल्प करोगे देर-सबेर उसी की पूर्ति हो जायगी। प्रभु की दया से संकल्पों की पूर्ति होती है और प्रभु कृपा से संकल्पों की निवृत्ति होती है।

सावधान होकर जब हम विचारपूर्वक देखते हैं तब यह निर्णय मिलता है कि जब हम परमेश्वर को सर्वत्र समान न मानकर किसी एक देश में एक स्थान में एक मूर्ति में व्यापक होने का विश्वास करते हैं तब हमें अपनी प्रार्थना के लिये उसी का सहारा लेना पड़ता है। जब हमें विश्वास हो जाता है कि-

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रगट होंय मैं जाना।।

तब हम जहां कहीं होते हैं, वहीं प्रार्थना सुनाते हैं।

जब हम परमेश्वर को अपने से भिन्न मानते हैं तब अपने मन की

कामना को कह कह कर सुनाते हैं किन्तु जब हम अन्तर्यामी प्रभु को अपने से अभिन्न जानते हैं तब मूक होकर प्रभु के मंगलमय विधान की ओर से क्या उत्तर आता है - उसकी प्रतीक्षा करते हैं।

जब हमें विश्वास हो जाता है कि प्रभु हमारे कहने के प्रथम ही हमारी आवश्यकता, इच्छा तथा अभिलाषा के साथ ही हमारे हित को जानते हैं तब हमें प्रभु के कर्तव्य की याद दिलाने के लिये कुछ कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; तब तो प्रभु की दया से क्या मिलता है और कृपा से क्या-क्या होता है- यही देखते रहना ही शेष रह जाता है।

नास्तिक, प्रकृति से अनजाने याचना करता है। आस्तिक समझ बूझ कर आस्था विश्वास एवं श्रद्धा के साथ प्रभु से प्रार्थना करता है। भक्त विनयी होता है।

प्रार्थना केवल कर्म नहीं है, वह तो दुखी हृदय की पुकार है। किसी प्रकार के बलाभिमान के रहते प्रार्थना नहीं हो पाती। जो अपने को अकिंचन देखता है वही सृष्टि के रचयिता से प्रार्थना करता है।

हमें विशेष रूप से सावधान किया गया है कि यदि तुम सांसारिक सुख चाहते हो, दुःख की सामयिक निवृत्ति चाहते हो; जब तक प्रभु से कुछ चाहते हो, वहां प्रार्थी बनो और जहां तुम केवल प्रभु को ही चाहते हो, वहां प्रभु के समक्ष विनयी बनो।

सुखोपभोग के लिये वाह्य शक्ति सम्पत्ति संयोग की आवश्यकता होती है। प्रभु के योग के लिये आस्था, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, समस्त सद्गुण दैवी सम्पत्ति की अपेक्षा रहती है इसीलिये तुम सात्विक श्रद्धा, अटल विश्वास, निष्काम प्रेम, शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप के ज्ञान एवं सतत ध्यान के लिये विनय करो।

प्रार्थी पर प्रभु की दया होती है और विनयी पर प्रभु की कृपा होती है।

सन्त की तो यही सम्मति है कि तुम निष्काम प्रेम के लिये विनयी बनो।

सकाम प्रेम में संसार भरा रहता है, निष्काम प्रेम में प्रभु प्रतिष्ठित

रहता है, प्रभु ही प्रेममय होकर अथवा प्रेम ही प्रभुमय होकर भक्त के समक्ष आनन्द के रूप में दर्शित होता है।

निष्काम होने पर अभावों का अभाव हो जाता है, अभावों के अभाव में ही नित्य आनन्द की अनुभूति होती है। सकामी को कहीं विश्राम नहीं मिलता, काम ही काम रहता है। प्रभु कृपा से निष्काम होने पर ही चिर विश्राम सुलभ होता है।

सन्त ने समझाया है कि मानव जीवन में सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ केवल प्रेम ही है। केवल प्रेम तभी होता है जब वह किसी भी वस्तु व्यक्ति अथवा जगत के प्रति नहीं होता। किसी भी व्यक्ति को चाहना राग युक्त प्रेम है। सभी प्राणियों को चाहना रागयुक्त प्रेम है।

उत्कृष्ट भोग सुख पाने के लिये पुण्य का संचय आवश्यक है।

संसार के बन्धनों से मुक्त होने के लिये प्रभु से ज्ञान प्राप्त्यर्थ प्रार्थना आवश्यक है।

भक्त होने के लिये निष्काम प्रेम आवश्यक है और प्रेम के लिये विनय अर्थात् समर्पण आवश्यक है।

निर्भय रहने के लिये सावधान

जो निर्भय है वही निश्चिन्त रह सकता है। जो चिन्ता से मुक्त है, वही शान्त स्वरूप हो सकता है। जो शान्त स्वस्थ है अर्थात् अपने आप में है, वही नित्य सत्य के योग में अखण्ड आनन्द का अनुभव कर सकता है।

अभय स्थिति उसी की हो सकती है जो आस्तिक है। अभय स्थिति उसी की हो सकती है जो किसी अन्य का आश्रय नहीं लेता। जड़ वस्तु के सहारे विनाशी बलों के सहारे पशु अथवा दानव भी निर्भय देखे जाते हैं, परन्तु उनकी निर्भयता किसी क्षण में सबल के आघात से भयातुरता में विलीन हो जाती है।

भय से बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है, कर्तव्य की विस्मृति एवं स्वरूप की विस्मृति में जो न होना चाहिये, वही हो जाता है।

सन्त की सम्मति है कि निर्भय होना है तो निष्काम हो जाओ, काम के रहते भय रहेगा। काम से छूटना है तो अहंता ममता का त्याग करो, अहंता का त्याग करना है तो स्वीकृत को अस्वीकार कर दो। ममता छोड़नी है तो जो कुछ मिला दीखता है, उसे अपना न मानो।

विश्वास रखो– प्रभु का विधान मंगलमय है कहीं भय न करो–

कवनेउ सिद्धि कि बिनु विश्वासा।

एक सन्त ने हमें समझाया कि जब तक विवेक की कमी है, ईश्वर पर विश्वास की कमी है, और कर्तव्य पालन करने में कमी है तब तक भय मिट ही नहीं सकता।

विनाशी वस्तुओं व्यक्तियों से ममता आसक्ति रखना अविवेक है। अविवेकी ही देहादिक वस्तुओं में तथा छिन जाने वाले बलों में विश्वास करता है।

एक परमात्मा से विमुख होकर अनेक नाम रूपों में विश्वास करने वाला ही कर्तव्य विमुख होता है। कर्तव्य विमुख तथा न रहने वाली वस्तुओं पर विश्वास करने वाला अविवेकी ही भय से घिरा रहता है।

यह गुरु सम्मति है कि तुम शुभ कर्म करने में, भजन दान में, व्रत में, तप में, सेवा करते हुए कहीं भय न करो। अपनी योग्यता तथा शक्ति एवं सम्पत्ति के भीतर ही मर्यादा का ध्यान रखकर सब कर्म करो।

विवेकीजन कहाँ-कहाँ भय रखते हैं?

१– अधर्मयुक्त प्रवृत्ति से।

२– अन्याय युक्त व्यवहार से।

३– बुद्धि तथा मन एवं तन द्वारा होने वाली चोरी से।

४– किसी के पीछे उसकी निन्दा से।

५– मन वचन कर्म द्वारा किसी की हिंसा से।

६– गुरुजनों एवं साधु ब्राह्मणों के अनादर से।

७– जिससे दोषों दुर्विकारों की वृद्धि होती हो, उस कुसंग से।

८– अभिमान अहंकार बढ़ाने वाली अपनी प्रशंसा से।

९– परचर्चा अथवा व्यर्थ वार्ता से।

१०– परनारी स्नेह से।

११– अनाचार दुराचार व्यभिचार से।

१२– लोभ मोह वश अधिक धन संचय से।

१३– अमर्यादित कामोपभोग से।

१४– क्रोध से।

१५– ईर्ष्या, द्वेष एवं कलह से।

१६– आलस्य से।

१७– सत्य परमेश्वर एवं धर्म और कर्तव्य से विमुख बनाने वाले प्रमाद से।

१८– विषयासक्त मन से।

१९– मोहग्रस्त बुद्धि के निर्णय से।

२०– ईश्वर विमुख अहंकार से।

२१– अतिथि के अपमान से।

२२– दुखी दीन की आह से।

२३– मन तथा इन्द्रियों के असंयम से।

२४– स्वाद वश अधिक आहार से।

२५– होश रहित जोश से।

२६– सभी अनर्थों पापों के मूल, आत्म अज्ञान से बुद्धिमान विवेकी जन डरते रहते हैं।

यह गुरु सम्मति है कि परिवर्तनशील संसार के संबंध में अनेकों अवसर, अनेकों प्रसंग ऐसे आते हैं जहां भय रखने से पतन नहीं होता, पाप नहीं बनते, ह्रास विनाश नहीं देखना पड़ता।

जहां तक असत् एवं अनित्य का संग है, वहीं तक भय की सीमा है।

असत् से, अनित्य से, नश्वर से असंग होने पर भय के लिये स्थान ही नहीं रहता।

जहां उत्पत्ति है, विनाश है, संयोग है, वियोग है, लाभ है और हानि है, वहीं तक भय है।

अविनाशी के योग में, परमात्मा के आश्रय में, 'स्व' के ज्ञान में, सत् के संग में, सर्व समर्थ की शरण में भय का प्रवेश नहीं होता।

किसी प्रकार का भय यह सूचित करता है कि हमने अविनाशी का, पूर्ण का, नित्य प्राप्त प्रभु का, सर्व समर्थ भगवान का आश्रय न लेकर विनाशी का, अपूर्ण का, बदलते रहने वाले का, प्रकृति का, असमर्थ का, भोग का आश्रय ले रखा है।

जो कुछ विनाशी है, परिवर्तन युक्त है, अनित्य है, उससे राग करने वाला भय रहित नहीं हो सकता।

संग के कुप्रभाव से तथा पतन के पाप अपराध से बचे रहने के लिये जिस प्रकार भय आवश्यक है, उसी प्रकार सात्विक प्रभाव के लिये, उत्थान के लिये, पुण्य वृद्धि एवं सद्गति परमगति और परम शान्ति के लिये, निर्भय होना भी परमावश्यक है।

कहाँ–कहाँ अभय रहना है?

१– शास्त्र आज्ञा, गुरु आज्ञा, भगवान की आज्ञा पालन करते हुए अभय रहना है।

२– गुरु से, माता-पिता एवं सुहृद मित्र से अपने दोष अपनी भूल बताने में अभय रहना है।

३– स्वधर्म एवं कर्तव्य पालन में।

४– वीतराग सन्त निष्काम भक्त की सेवा में।

५– विवेक पूर्वक तप में, व्रत में, संयम में भी अभय रहना है।

६– सत्कर्म तथा दान पुण्य के मध्य आने वाली प्रतिकूलताओं में।

७– धर्माग्रह में, सत्याग्रह में, अहिंसा व्रत में भी।

८– उचित प्रश्नों के उत्तर में एवं विद्वानों से जानकारी प्राप्त करने के लिये प्रश्न करने में भी अभय रहना है।

६– जिससे किसी का हित हो, उस दुखद घटना के कथन में भी।

१०– प्रकृति के मंगलमय विधान से आने वाली प्रतिकूल परिस्थिति में भी अभय रहना है।

११– सभी प्रकार के बलों के सदुपयोग में भी।

१२– शक्ति के रहते हुए योग्यतापूर्वक निर्बल की सुरक्षा में भी अभय रहना है।

१३– किसी पदाधिकारी से उचित वार्ता करने में भी।

१४– अध्ययन किये हुए विषय की तथा स्वधर्म स्वकर्म की परीक्षा में भी।

१५– आत्मा परमात्मा के ज्ञान में एवं प्रभु के ध्यान में और भगवान शरण में भी।

१६– अपने किये हुए अपराधों के दुखद भोग में भी।

१७– भोग एवं भय से मुक्त बनाने वाले योग साधन में।

१८– चाहते हुए जो कुछ चला ही जायगा, न चाहते हुए जो कुछ आ ही जायेगा, उसमें भी अभय रहना है।

१६– शुभ संकल्प की पूर्ति में भी।

२०– सत्पथ, पुण्य पथ में चलते हुए सत्कर्म करते हुए निन्दा अपवाद में भी अभय रहना है।

२१– यह सत्य है कि बड़े-बड़े ज्ञानियों, ध्यानियों, तपस्वी जनों को भी माया मोह पाश में नचाती है परन्तु माया पति परमेश्वर का आश्रय लेकर सदैव सर्वत्र अभय रहता है।

२२– भगवद् भजन में, साधनाभ्यास में भी।

२३– परमार्थ सिद्धि के लिये परिग्रह छोड़ने में संग्रह के त्याग एवं सन्यास में भी अभय रहना है।

२४– प्रारब्धवश होने वाले आकस्मिक वियोग में, हानि में, रोग में, मृत्यु में भी अभय रहना है।

२५– सेवा का संकल्प, तप का संकल्प करते हुए सर्दी, गर्मी, वर्षा, अनादर, अवहेलना, आलोचना में भी भय नहीं करना है।

२६– योग सिद्धि की अभिलाषा लेकर भयानक रूपों के दर्शन से, एवं शून्यता से, एकान्त से, कटु ध्वनियों से भी अभय रहना है।

२७– भगवान के नाम का तथा भगवद् कथा का, दैवी गुणों का आश्रय लेकर सरल भाव से कल्याण का दृढ़ विश्वास कर अभय रहना है।

२८– अपने चैतन्य स्वरूप के ध्यान में नित्य प्राप्त पूर्ण परमात्मा की कृपा का अनुभव करते हुए अभय रहना है।

२६– जिन देहादिक वस्तुओं पर अपना अधिकार नहीं है, उनसे निरासक्त रह कर और जो अपने को कभी नहीं छोड़ता ही नहीं, उस प्रेमास्पद प्रभु में अनुरक्त होकर अभय रहना है।

सर्वांश में भय त्याज्य ही हो– ऐसी बात नहीं है क्योंकि भय कहीं बाधक है तो कहीं उन्नति में साधक भी है।

साावधान होकर देखने से ज्ञात होता है कि भोग के पथ में चलते हुए मनुष्य की भय के द्वारा ही असंयम से संयम की ओर, दुराचार से सदाचार की ओर, पाप से पुण्य की ओर, कृपणता से उदारता की ओर, राग से विराग की ओर, आलस्य से श्रम की ओर, ह्रास से विकास की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर प्रगति होती है किन्तु प्रेम की कमी से प्रगति रुक जाती है।

भय के बिना पशु प्रवृत्ति वाला मनुष्य मानवता को स्वीकार नहीं करता। भय के बिना भोग वृत्तियों में मर्यादा नहीं आती। लालचवश मनुष्य पतित होता है, भयवश पुनः **लालच का त्याग** करता है।

जो भय दुष्कर्म से दुर्भावनाओं से दुसंग से बचाता है, वह अति शुभ है। जो भय सत्कर्म धर्म पथ में, तथा वृत में, सेवा में, साधना में, त्याग में बढ़ने नहीं देता है वह बहुत ही अशुभ है।

हमें भगवान से भय नहीं करना है, कर्मानुसार फल देने वाले भगवान के विधान से भय करना है। हमें गुरु से भय नहीं करना है, गुरु की अवज्ञा से भय करना है। हमें दण्ड से नहीं डरना है, अपने दोषों से डरते रहना है। हमें त्याग से नहीं, राग से डरना है।

यह गुरु निर्देश है कि उन्नति सद्गति परम गति चाहने वाले साधकों! तुम वियोग से नहीं विनाशी के संयोग से डरो क्योंकि संयोग के कारण ही वियोग होता है। पुनः तुम संयोग से भी नहीं, **उसकी आसक्ति ममता से डरो क्योंकि आसक्ति ममता के कारण ही घोर दुःख होता है।** तुम संसार से नहीं निस्सार से डरो क्योंकि संसार में निस्सार का त्याग करते ही संसार सेवा का तथा साधना का सुन्दर क्षेत्र बन जाता है। तुम धन से नहीं, लोभ से डरो क्योंकि धन की हानि से दुःख नहीं होता, लोभ से दुःख होता है। तुम पदाधिकार से नहीं, उसके अहंकार से डरो क्योंकि अहंकार ही कर्तव्य से विमुख बना देता है और अहंकार की यात्रा में ही अपमान का दुःख होता है। तुम कर्म से नहीं कर्तव्याभिमान से डरो क्योंकि वही फल के बंधन में बांध देता है। तुम बंधन से नहीं उस स्वच्छन्दता से डरो जिसके कारण वेद शास्त्र गुरु आज्ञा का उल्लंघन करके कामनाओं की पूर्ति का सुख भोगा जाता है, जिसके परिणाम में दण्ड का बन्धन होता है। तुम दुःख से नहीं उस सुखासक्ति से डरो जिसके कारण ही बार-बार दुःख देखना पड़ता है।

सन्त समझाते हैं कि तुम संसार से जब तक कुछ चाहोगे तब तक भय से मुक्त हो ही नहीं सकते।

जहां संयोग होता है, वहीं वियोग का भय हैं जहां लाभ दीखता है, वहीं हानि का भय है। जहां सम्मान मिलता है, वहीं अपमान का भय है। जहां भोग सुलभ है, वहीं रोग का भय है। जहां उच्च पद या उच्च कुल मिलता है, वहीं पदच्युत होने का भय है। भर्तहरि महाराज ने तो एक वैराग्य को ही अभय पद बताया है।

हमें सावधान किया गया है कि बाहर की सम्पत्ति जितनी बढ़ेगी, दूसरों का दिया हुआ जो कुछ मिलेगा उसके साथ सदा भय रहेगा। जब तुम अपने भीतर की परमनिधि को दैवी सम्पत्ति को जान लोगे और बाहर से मिलने वाले की अपेक्षा न रक्खोगे तभी निर्भय होकर निश्चिन्त रह सकोगे।

यदि तुम्हें शरीर की नश्वरता का तथा **आत्मा की अमरता का ज्ञान** है, तब तो शरीर की मृत्यु का भय होना ही न चाहिये। वस्तु तथा व्यक्ति में ममता से ही भय होता है, लोभी अभिमानी भय से नहीं बच सकता।

अपने को क्रोधादि विकारों से बचाने के लिये साधु, अहिंसाव्रती, यती, सन्यासी तीन दण्ड धारण करते हैं। वे किसी का भी बुरा चिन्तन नहीं करते– यह मन का दण्ड है। वे सत्य तथा प्रिय भाषण करते हैं– यह वाणी का दण्ड है। वे शरीर से किसी को कष्ट नहीं देते– यह काया का दण्ड है।

हमें सावधान किया गया है कि संसार से कुछ भी पाने का लालच जब नहीं रहेगा, तब खोने का भय भी नहीं रहेगा। लालच लोभ के रहते भय नहीं मिटेगा।

जब तक विवेक का अनादर होगा, अनन्त के मंगलमय विधान पर अविश्वास रहेगा, कर्तव्य पालन में, आलस्य प्रमाद रहेगा तब तक भय अवश्य ही रहेगा। सन्त का निर्णय है कि जहां तक भय रहेगा, वहां तक भेदभाव भी रहेगा। जहां भेदभाव रहेगा, वहां संघर्ष अवश्य होगा, जहां संघर्ष होगा वहां हिंसा अवश्य ही होगी।

भय ही हिंसा का मानसिक रूप है। भय से ही हिंसा का जन्म होता है। भयातुर कभी अहिंसक नहीं हो सकता।

भय से मुक्त होने के लिये नाशवान तथा छूट जाने वाली वस्तुओं से अनासक्त होना भी आवश्यक है। अनासक्त होने के लिये विरक्त सन्त में अनुरक्त होना सौभाग्य की बात है।

हमारे सामने सभी प्रकार के भय इस भूल का परिचय देते हैं कि हमारा संबंध अविनाशी से नहीं प्रत्युत विनाशी से है। जो कुछ हमें मिला है चाहे वह शरीर हो या प्रिय जनों का संयोग हो, या सम्मान हो, या अधिकार हो, अथवा प्यार हो, या फिर कोई शक्ति हो, किसी प्रकार की सम्पत्ति हो - यदि मिले हुए के छिन जाने की आशंका है, तब भय अवश्य ही रहेगा। जो कुछ छिन जायगा, छुट जायगा वह अविनाशी नहीं हो सकता, इसीलिये अविनाशी से प्रीति हुए बिना किसी का भय मिट नहीं सकता।

सावधान होकर देखने से ज्ञात होता है कि हम जो कुछ भी चाहते हैं,

अपने लिये ही चाहते हैं परन्तु वह अपना हो नहीं पाता।

आश्चर्य का विषय यह है कि जब तक हम कुछ चाहते हैं तब तक अपने को नहीं चाहते हैं क्योंकि अपने महत्व को जाना ही नहीं है इसीलिये हम अपने आपका मूल्य घटा कर पर का मूल्य बढ़ाते हैं - विनाशी का मूल्य बढ़ाते हैं, अपने में अन्य को भर कर अपना रूप कल्पित करते हैं। जो हम नहीं हैं वह अपने को मानते हैं। जो मेरा नहीं है, उसे अपना जानते हैं।

सन्त ने हमें सावधान किया है कि तुम 'स्व' को एवं सत्य को न जान कर आनन्द के लिये जितने भी प्रयत्न करोगे, जिस किसी वस्तु व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ोगे वह सब तुम्हें दुःख में ही ले जायेंगे, तुम निश्चिन्त निर्भय रहने के लिये जिस किसी का आश्रय लोगे, वही तुम्हें भयातुर बनाता रहेगा। तुम शांति की आशा से जो कुछ भी छोड़ोगे और नया-नया कुछ पकड़ोगे उसी से तुम्हें अशान्ति होगी। तुम शान्ति की खोज में चलते रहोगे, परंतु अशान्ति छाया की भांति आगे दीखती रहेगी।

अपने से भिन्न की ओर देखते हुए किसी अन्य का सहारा लेते हुए सुख के पीछे दुःख का भय, मिलने के साथ छूटने का भय, जन्म के साथ मृत्यु का भय लगा ही रहेगा। भय तभी मिटेगा, जब अपने में अन्य कुछ न रक्खोगे और अपने को किसी अन्य में न रक्खोगे।

यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो डरते रहो— कहीं किसी संग के प्रभाव से कोई कामना उत्पन्न न हो जाये, मन में किसी का संग न भर जाये।

यदि तुम उत्कृष्ट सुख ही चाहते हो तो डरते रहो, सुखोपभोग में बाधा डालने वाले पाप कर्म न बन जायें।

वास्तव में जिसे भय न सताये वही निष्काम सेवक है, वही असंग तत्ववेत्ता है, वही प्रेमी भक्त है। जब तक भय रहता है तब तक अवश्य ही कोई न कोई कमी रहती है। पूर्णता में भय मिट जाता है।

कुछ समय तक असत् संगी भी धन के सहारे शरीर बल के सहारे, पदाधिकार के सहारे, बुद्धि, विद्या, कला के सहारे निर्भय दीखते हैं परन्तु किसी समय अचानक भयातुर असहाय दशा से सभी को दुःखी होना पड़ता है।

जो संसार से कोई आशा नहीं रखता, जो शाश्वत सनातन परमात्मा

में विश्राम पा जाता है, वही भय से मुक्त हो जाता है।

जो अपने को जान लेता है, परमात्मा को अपने में प्रतिष्ठित देखता है, भय से मुक्त होता है। कदाचित् किसी शांत स्वस्थ वीतराग तत्ववेत्ता महात्मा को किसी ने अकस्मात् सूचना दी कि आततायी दस्यु आ रहा है, शरीर पर आघात करेगा। किसी ने सूचना दी कि नगर में भयानक आग लगी है, बढ़ती आ रही है। किसी ने सूचना दी कि निकटस्थ नदी में बाढ़ आ गई है, सब कुछ बहा ले जायगी। किसी ने सूचना दी कि भयानक तूफान आ रहा है— महात्मा अविचलित शान्त मुद्रा से यहीं कहेंगे, जो कुछ कर सकते हो वह करो, परन्तु सावधान होकर यह भी देख लो कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेद यन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।

मुझे शस्त्र नहीं काट सकते,
मुझे आग नहीं जला सकती।
मुझे जल नहीं गला सकता,
मुझे वायु नहीं सुखा सकती।।

यह गीता वाक्य, महात्मा को निर्भय बनाने वाला मंत्र यदि स्मरण बना रहे तो कोई भी इस मंत्र को धारण करके निर्भय रह सकता है, कर्तव्य का पालन करते हुए शान्त स्वस्थ हो सकता है।

एक कथा मैंने सुनी थी— समुद्र में जहाज चला जा रहा था, सैकड़ों यात्री अचानक घबड़ा उठे क्योंकि तूफान से जहाज हिलने लगा था। एक उच्चाधिकारी अपनी पत्नी समेत उच्च श्रेणी में यात्रा करते हुए प्रसन्न मन से कुछ गुनगुना रहा था—

राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।
यहाँ यूं भी वाह वाह है और वूं भी वाह वाह है।।
प्रियतम ज्यों राखे त्यों रहिये।

जहाँ सभी भयातुर थे, वहाँ एक व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में कुछ गा रहा था। उसकी पत्नी ने प्रश्न कर दिया कि आप देखते नहीं हो कि तूफान से

जहाज खतरे में है, फिर भी आप निर्भय निश्चिन्त से क्यों हैं? पति ने अपनी रिवाल्वर निकाल कर पत्नी के सामने कर दी और पूछा कि बोलो! क्या सोचती हो? पत्नी ने कहा आप को विनोद सूझा है, आपकी रिवाल्वर से मुझे भय नहीं है क्योंकि मैं विश्वास रखती हूँ कि आप मुझे इतना प्यार करते हैं, चूंकि मैं आपकी ही हूँ इसलिये आप मुझे मार नहीं सकते।

पति ने कहा, बस समझ लो? मेरा प्रभु मुझे इतना प्रेम करता है कि कभी उसके विधान से मेरा अनिष्ट नहीं हो सकता।

एक महर्षि ने बताया है कि प्रायः शोक के हजारों अवसर और भय के सैकड़ों कारण प्राणी के सम्मुख उपस्थित होते रहते हैं किन्तु उनका प्रभाव मूर्खों पर ही होता है, विवेकी विद्वानों पर नहीं होता।

जब कभी सम्मान, अधिकार, भोग सामग्री, सम्पत्ति छिन जाने का भय होता है तभी अधिकतर मनुष्य छल, कपट, हिंसा आदि पाप कर्म करने में व्यस्त होता है।

जब कभी सम्मान, अधिकार, भोग सामग्री तथा सद्गुण सद्ज्ञान अथवा सिद्धियां प्राप्त होने का लोभ बढ़ता है और उनकी अप्राप्ति का दुःख होता है तब मनुष्य तप, त्याग, पुण्य कर्म के लिये तत्पर होता है।

भय की निवृत्ति के लिये अटूट धैर्य की, दृढ़ साहस की एवं यथार्थ विवेक की, साथ ही कहीं-कहीं अभ्यास की और प्रगाढ़ प्रीति की आवश्यकता है।

सन्त की तो यही सम्मति है कि यदि तुम सेवक हो तो डरते रहो, कहीं स्वामी के प्रतिकूल कर्म न बन जाये, यदि तुम भक्त हो तो डरते रहो, कहीं भगवान से विमुख बनाने वाले कर्म न बन जायें।

भय को सबसे अधिक हीन वृति माना गया है। भय दुर्बलता की सीमा में रहा करता है। जो मानव सर्व शक्तिमान परमेश्वर का आश्रय नहीं लेता, वही सीमित बलों का अभिमानी बन कर अनेकों पाप अपराध करता है और न चाहते हुये दुःख भोगता है। इसीलिये विवेकी जन पाप से भय मानते हैं।

ब्रह्मखण्ड में लिखा है कि पाप से ही व्याधि आती है, पाप से ही वृद्धावस्था में प्रतिकूलताओं का दुःख होता है, पाप से ही दूसरों के आगे दीन

होना पड़ता है, पाप से ही अनेकों कष्ट शोक आते हैं, इसीलिये भारत के दूरदर्शी महात्मा सन्त पुरुष इस महान वैरी, दोष के मूल, अमंगलकारी पाप के आचरण से दूर रहते हैं, पाप से घबराये से रहते हैं।

एक सन्त कह रहे थे कि मनुष्य का जिस समय पुण्य क्षीण होता है, उसी समय उसे हिंसक पशुओं का भय, अथवा चोर का भय, राजा का, सर्प का भय एवं अग्नि का भय, अपमान का भय, वियोग का भय, दुःख देने लगता है।

अधिकाधिक सुखोपभोग से मनुष्य के पुण्य शीघ्र क्षीण होते हैं। दूसरों के द्वारा प्रतीत होने वाले दुःखों को भोग लेने से, शान्त रहने से पाप क्षीण होते हैं।

सन्त अपने साधक जनों को सावधान करते हैं कि तुम मिली हुई वस्तुओं के सहारे निर्भय हो रहे हो, यह भ्रम ही है। संसार में जो कुछ मिलेगा चाहे कोई वस्तु हो या सम्बन्धी हो या अधिकार हो- वह एक न एक दिन अवश्य ही छूट जायगा इसलिये तुम सावधान होकर उसका आश्रय लो, जो सब कुछ छूट जाने के पश्चात् भी कभी नहीं छूटता है।

तुम उस तत्वज्ञान का आश्रय लो जिसके द्वारा दृश्य जगत मिथ्या प्रतीत होता है, आत्मा ही सत्य दीखता है।

निर्भय रहने के लिये उस प्रेम का आश्रय लो जिससे अपने प्रेम पात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कामना नहीं रह जाती।

निर्भय रहने के लिये तुम उस प्रेमास्पद का आश्रय लो जिसका नित्य योग रहता है, जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं होती, जिसका कहीं अभाव नहीं होता, जो अविनाशी है, पूर्ण है। जो अपने आप में प्राप्त है। सन्त सावधान करते हैं-

रण वन व्याधि विपत्ति में वृथा डरो जनि कोय।
जो रक्षक जननी जठर जो हरि गयो न सोय।।

सजावट बनावट में सावधान

जो कुछ देखा जाता है या सुना जाता उसकी नकल करने की प्रवृत्ति बाल्यकाल से ही स्वाभाविक होती है। बनावट वाह्य आकृति में होती है उसका वास्तविक सत्य रूप भीतरी प्रकृति में होता है। इसलिये गुरुजनों ने हमें सावधान किया है कि, जो कुछ तुम करो वह गुरु आज्ञानुसार ही करो। जिस मन में करने का संकल्प है वह मन परिणाम नहीं देख पाता। यदि दूसरों की नकल करने में दम्भ, पाखण्ड, झूठ, छल, अभिमान आदि दोषों की वृद्धि होती है तब तो वह पतनकारी है, उसका दर्शन कोई बुद्धियोगी ही कर पाता है।

जिस अनुकरण (नकल) से दूसरों को प्रसन्नता होती है किसी को लाभ होता है अपने भीतर सद्‌गुण बढ़ते हैं वह अवश्य ही करणीय है।

जो कुछ भी देख सुनकर प्राणी मुग्ध होता है उसी की नकल करके दूसरों को मुग्ध करना चाहता है। अथवा जिसके द्वारा मनुष्य दूसरों को सुखी मानता है उसी का अनुकरण करके स्वयं भी सुख मानता है परन्तु उसके परिणाम को कोई विवेकी ही देख पाता है।

हमें समझाया गया है कि किसी की नकल करना कहीं-कहीं प्रगतिदायक है किन्तु जो अनुकरण (नकल) मान-प्रतिष्ठा पाने के लिये है अथवा धन लाभ के लिये है या फिर किसी को मुग्ध बनाकर अपनी कामना पूर्ति के लिये है वही प्रगति में बाधक है।

किसी की बाहरी सजावट बनावट का अनुकरण प्रायः मान, धन, भोग की तृष्णा को तृप्त करने के लिए ही होता है किन्तु किसी की भीतरी सात्विक प्रकृति का अर्थात दैवी सम्पत्ति का अनुकरण करने से जीवन सुन्दर बनता है। सुन्दर जीवन से अपना तथा समाज का हित होता है।

बहुत कम बुद्धिमान मिलते हैं जो अपने पतन की बात, अपनी हानि की बात सुनकर तथा अपने बनाये हुए दोषों की बात सुनकर अपनी उन्नति के लिए तथा दोषों से बचने के लिए सावधान हो जायें। अधिकतर मनुष्य गिरने, चोट खाने एवं हानि से दुखी होने के पश्चात ही सावधान होकर कर्तव्य का पालन करते हैं, पूर्ण दुःखी हुए बिना दोषों के त्याग का, सत्य से प्रेम का संकल्प

नहीं होता है।

हमें सन्त के संग से ज्ञात हो सका है कि दूसरों से हम तब तक किसी न किसी प्रकार की पूर्ति चाहते रहते हैं जब तक हमें अपने में कमी प्रतीत होती है। हमारे सारे प्रयत्न अपने अभाव की पूर्ति के लिये ही चलते रहते हैं।

हमें अपने में तब तक अभाव दीखता ही रहेगा जब तक अपने आप में ही पूर्ण परमात्मा की नित्य प्राप्ति का बोध न होगा।

सत्य परमात्मा का ज्ञान न होने के कारण ही अबोध दशा में हम संसार में आनन्द तृप्ति शान्ति खोज रहे हैं हम अपने ही समान अतृप्त अशांत अबोध जनों से कहीं मान चाहते हैं, कहीं नाम चाहते हैं, कहीं धन चाहते हैं, अथवा इन्द्रियों के भोग चाहते हैं।

अनेकों प्रकार की कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए हम दूसरों को अपनी आकृति में प्रकृति में मोहित करने के लिये, आकर्षित करने के लिये नाना प्रकार से सजाते बनाते रहते हैं।

दूसरों की दृष्टि में सर्वोपरि धनी बनने के लिये घोर प्रयत्न करते हुए जीवन बिता देते हैं। कभी-कभी भाग्यवश धन आता है और चला भी जाता है कभी-कभी हमें ही धन को छोड़ देना पड़ता है या छिन जाता है फिर भी हम धन से विरक्त नहीं हो पाते।

कभी हम अपने मान तथा नाम के लिए ऊँचे पद अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, कदाचित् विशेष श्रम अथवा सौभाग्य से वह प्राप्त भी हो जाते हैं, किन्तु न चाहते हुए भी एक दिन छिन जाते हैं और हम अतृप्त के अतृप्त ही रह जाते हैं।

अनेकों आघातों, प्रत्याघातों, सफलताओं, असफलताओं के द्वन्द्व से थककर हम सब कुछ छोड़कर विरक्त त्यागी सन्यासी बनते हैं, शान्ति प्राप्ति की कल्पना को लेकर जोश आवेश में संसार से दूर जाना चाहतें हैं परन्तु जहाँ जाते हैं वहीं संसार एक के पश्चात् दूसरे रूप में हमारा स्वागत करता है। हम उसके छद्‌मवेशी रूप को जान नहीं पाते क्योंकि जब तक हम अपने को ही नहीं जानते तब तक अन्य को क्या पहचानेंगे? हम बाहर से देखे हुए सन्यासी, त्यागी, तपस्वी, विरागी का वेष धारण करते हैं किन्तु रूप धारण करने वाले

अपने अहंकार को देख नहीं पाते– जिसे लेकर ही हम दूसरों के सामने अपने को प्रकट करते रहते हैं, उस सन्यासी, त्यागी, विरागी वेष में भी हमें अपने नाम और मान की भूख बनी ही रहती है। गुरु विवेक के द्वारा हमने देखा कि अपने मान के लिये कभी उच्च सिंहासन में बैठने का संकल्प पूर्ण करते हैं, परन्तु उसकी आलोचना सुन पुनः मान पाने के लिये अपने को अमानी विनम्र दिखाने के लिये हम सबसे पीछे जूतों के पास बैठने में संकोच नहीं करते, अति दीन हीन बन जाते हैं। दूसरों के द्वारा मान प्यार पाने के लिये हम रंगे हुए वस्त्रों द्वारा अपनी देह की कुरूपता को ढकते रहते हैं, और कभी प्रवचन प्रपंच में जाते समय उसे गांठों तक लपेट कर अपने को अवधूत विरक्त समझ कर संतुष्ट रहते हैं। कभी दूसरों की दृष्टि में सुंदर दीखने के लिये सभी मंच में जाने के प्रथम हम हजामत बनाने के लिये एकान्त स्थान खोज कर ध्यानाभ्यास का बहाना करते हैं, कभी बाल बढ़ा कर उन्हें संवार कर सुन्दरता की वृद्धि चाहते हैं।

अपने को विरक्त सिद्ध करने के लिये कभी हम कोपीन मात्र धारण करते हैं, कभी टाट पहनते हैं। कभी प्यार पाने के लिये शरीर को रेशमी सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित करते हैं और कभी शरीर की पुष्टता का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार हम दूसरों की अपेक्षा से जो कुछ भी करते हैं, वह दूसरों से कुछ न कुछ पाने के लिये ही करते हैं।

जिनका अंतर जीवन सद्गुण सद्भाव सद्विवेक से सुन्दर है, जिनका हृदय शीतल है शान्त है उन्हें वाह्य शरीर को सजाकर दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने की इच्छा नहीं रह जाती।

प्रायः आज हम साधारण कोटि के व्यक्ति एक गमछा पहन कर अधखुले शरीर से घर के बाहर निकलने का साहस नहीं करते, किन्तु महात्मा गांधी घुटने तक खद्दर की धोती और चादर मात्र शरीर में धारण करके इंग्लैण्ड दरबार में महारानी से मिलते हुए संकोच नहीं किया तभी वह धर्मात्मा ही नहीं, महात्मा माने गए।

जिन्हें आन्तरिक सौन्दर्य सुलभ नहीं दीखता, वही जन अपने परिचितों को वाह्य आकृति सजा कर मधुर शब्दों द्वारा मुग्ध करने का आकर्षित करने का

प्रयास करते रहते हैं।

एक विद्वान कह रहे थे कि कभी ऐसा भी समय था, जब मनुष्य अपने शरीर को अधिक से अधिक खुला रखता था और नारी अपनी सुन्दरता को छिपाने के लिये अधिक से अधिक शरीर को ढके रहती थी परन्तु आज नारी अपने को सुन्दर दिखाने के लिये शरीर को खोलती जा रही है और पुरुष वस्त्रों की सुन्दरता से अपने शरीर को नीचे से ऊपर तक ढकता जा रहा है।

आंखों से देखने की शक्ति पशु पक्षी कीट पतंग सभी जन्तुओं को मिली है परन्तु आंखों से जो कुछ सुन्दर प्रतीत होता है उसका प्रभाव मन पर जो कुछ पड़ता है, उसका दर्शन विवेकवती बुद्धि द्वारा ही होता है।

आज के युवक युवतियों में शरीर को सजाने व उसी को सुन्दर बनाकर दूसरों को रिझाने के लिये कितनी अतृप्त कामना बढ़ रही है? कितनी विलासिता मन में छा गई है? और कितनी वस्तुओं की दासता आ गई है? साथ ही सजावट बनावट के पीछे भीतर कितना अहंकार मद-मत्सर बढ़ रहा है? किसी के आगे अभिमान और किसी के समक्ष दीनता बढ़ रही है–यह देखने के लिये कौन बुद्धिमान युवक या युवती सावधान है? कौन माता-पिता अपनी सन्तान के हितैषी हैं? कोई विरले ही मिलेंगे।

जिन माता-पिता को अपने हित का ध्यान नहीं है, वह संतान के हितैषी कैसे हो सकते हैं। अधिकतर सबकी दृष्टि इन्द्रिय सुखोपभोग तक ही जाती है।

सुख भोग के अन्त में जो दुःख भोग करना पड़ता है, उसे बुद्धि योगी ही देख पाते हैं।

ऐश्वर्य और सुखोपभोग में आसक्त मनुष्य बुद्धियोगी नहीं हो पाता, इसीलिये वह किसी कर्म के परिणाम को देखने के लिये सावधान नहीं रहता।

किसी बुद्धिमान पाठक की बुद्धि में विवेक प्रकाश उतर रहा हो तो अपने हित के लिये और अपने से सम्बन्धित जनों के हित के लिये सावधान हो जाना चाहिये और जिस पर अपना कुछ अधिकार शेष रह गया हो, उसे

भारतीय वेशभूषा की सादगी तथा नारी को अंग आवरण का पक्षपाती बनाना चाहिये।

अहंकारोन्माद एवं काम वर्धक पाश्चात्य वेश-भूषा का विरोध करना चाहिये।

अनुकरण (नकल) करना है तो किसी की विनम्रता, करुणा, उदारता, सरलता, सरसता, मधुरता, गम्भीरता, सहिष्णुता तथा किसी के श्रम संयम सदाचार सेवा एवं निष्कामता को पूर्ण रूप से अपने जीवन में धारण करने के लिये सावधान रहना चाहिये किन्तु सुखासक्ति एवं आसुरी प्रकृति इस प्रयत्न में बाधक बनती है।

बुद्धिमान विचारवान पाठकों! सावधान रहना, आंखों से दीखने वाली आकृति की सुन्दरता पर सजावट बनावट पर ही मोहित न हो जाना; उसके भीतर रहने वाली अन्तर प्रकृति की, दैवी गुण युक्त सुन्दरता का निरीक्षण बुद्धि दृष्टि से अवश्य कर लेना।

बाहरी रूप की सुन्दरता एक वैश्या में भी पाई जाती है, परन्तु भीतरी पवित्रता से पूर्ण दैवी गुणों की सुन्दरता तो किसी पतिव्रता में ही मिलती है। सम्भव है कि भीतर से पूर्ण पवित्र, सुन्दर हृदय वाली देवी बाहर से विशेष रूपवती न भी हो। फिर भी विवेकी जन बुद्धि दृष्टि से दैवीगुण सम्पन्न पतिव्रता देवी को ही मान देंगे, रूपवती वैश्या के सौन्दर्य में मुग्ध नहीं होंगे।

आंखों से देखने में एक असंयमी का शरीर बहुत हृष्ट-पुष्ट आकर्षक सुन्दर दीखता है, उसकी अपेक्षा एक संयमी तपस्वी सदाचारी का शरीर आकर्षक नहीं होता। आंखों से क्रीम पाउडर की चमक कोई बालक देख सकता है पर ब्रह्मचर्य के ओज तेज का दर्शन बुद्धिमान ही कर पाता है।

किसी वाह्य बनावट सजावट में मुग्ध होकर बालक भी उसका अनुकरण कर लेते हैं परन्तु किसी की दैवी प्रकृति अर्थात् सद्गुणों की नकल विरले पुरुष कर पाते हैं।

दूसरों को यज्ञ करते हुए, अध्ययन करते हुए, दान करते हुए, सम्मान

करते हुए, सेवाकार्य अथवा तप करते हुए देखकर उसी भांति यज्ञ, अध्ययन, दान, सन्मान, तप सेवा, शुभ कर्म करने वाले अनेकों दम्भी पाखण्डी भी दिखाई देते हैं परन्तु प्राचीन काल के धर्माचार्यों की भांति सत्य परमात्मा से ही प्रेम करने वाले, विरोधी को क्षमा करने वाले, विपत्ति को, प्रतिकूलताओं को, धैर्यपूर्वक सहन करने वाले लोभ मोह ममता अहंता का त्याग करने वाले कोई विरले ही साधक मिलते हैं।

हमें सन्त ने सावधान किया है कि दूसरों को देखकर जो कुछ भी करो, उसके प्रभाव को भी देखते रहो। ऐसा अनुकरण न करो जिससे मिथ्याभिमान बढ़ता हो, अधिक धन की आवश्यकता पड़ती हो, वस्तुओं की दासता विलासिता की वृद्धि होती हो। चिन्ता और अशान्ति घेर लेती हो।

सन्त ने हमें समझाया है कि तुम अपनी अदूरदर्शी बुद्धि से भी सावधान रहना जो किसी की बाहरी आकृति की सजावट बनावट में मुग्ध होकर कभी किसी को सज्जन होने का, धर्मात्मा होने का, भक्त होने का तथा किसी को महान त्यागी तपस्वी सिद्ध होने का निर्णय देती रहती है।

अनेकों भावुक महाशय अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के निर्णय पर विश्वास करते हुए बहुत ही धोखा खाते हैं, ठगे जाते हैं क्योंकि अपनी समझ का अभिमान रखते हैं; अभिमान वश ही अपने धर्म ग्रन्थों एवं सन्तों के निर्णय को नहीं मानते।

गुरुजनों ने सावधान कर दिया है कि तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी, ध्यानी भक्त विरक्त की पहिचान बाहर से कदापि न करो, उसके भीतर की शान्ति का, ममता का, निरभिमानता, निर्द्वन्द्वता एवं निरपेक्ष प्रसन्नता का पता लगाओ।

गीता के बारहवें अध्याय में तेरहवें श्लोक से बीसवें श्लोक तक मनन करो। सोलहवें अध्याय में दैवी आसुरी सम्पत्ति का अध्ययन करो। तेरहवें अध्याय में ज्ञान अज्ञान के लक्षणों को मनन करो, सात्विक राजस तामस भेद को जान लो तब ठीक पहिचान कर सकोगे।

सन्त की सम्मति तो यही है कि तुम अपने को ही देखो, दूसरों की

नाप तौल करने में समय नष्ट न करो।

जो किसी की कोई नकल नहीं करता वह या तो मान माया भोग की कामना से रहित वीतराग युक्त महात्मा है या फिर कोई विवेकी निष्काम प्रेम करने वाला सेवक है या कोई आदर्श पतिव्रता साध्वी प्रेमिका है।

जो भीतर से सत्य का आश्रय लेकर तृप्त शान्त सन्तुष्ट रहता है, वहीं नकल नहीं करता।

अज्ञानी अविवेकी को नकल करनी ही होगी। वह नकल करते-करते कभी वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होगा। क्योंकि उसकी बुद्धि दृष्टि अभी नहीं खुली है।

हमें सावधान किया गया है कि किसी की नकल करके आकृति सजाओ, वेष बनाओ, उसके साथ ही अपने विचारों को, कर्मों को भी पवित्र बनाओ, केवल वाह्य देह में ही न अटके रहो।

आज सहस्रों व्यक्ति दूसरों के वस्त्रों की, केशों की, मूंछों की, फैशन की नकल करके जितना ही ऊपर की सुन्दरता से दूसरों को रिझाना चाहते हैं उतना ही भीतरी प्रकृति में कुरूपता बढ़ाते जाते हैं किन्तु देख नहीं पाते क्योंकि सावधान नहीं हैं।

तुम्हें किसी की नकल ही करना है तो उसकी नकल करो जिसका बाहरी रहन-सहन तो सादा हो, परन्तु विचार ऊंचे हों, भावना परोपकार की हो, दीन दुखी की सेवा सहायता की लगन हो।

सावधान रहना किसी साधु सन्यासी के बाहरी त्याग तप की नकल न कर बैठना क्योंकि किसी वाह्य त्याग तप की नकल करने से बाहरी वेशभूषा बनाने से दम्भ पाखण्ड एवं अभिमान की ही वृद्धि होती है, उस तप से न तो शक्ति मिलती है और न उस त्याग से शान्ति मिलती है। उस तप से न तो शक्ति मिलती है और न उस त्याग से शान्ति मिलती है, न वाह्य वेष के प्रदर्शन से भक्ति मिलती है।

सावधान होकर देखने से ज्ञात होता है कि हमने जहां किसी को त्यागी तपस्वी मुक्त मानकर उसी के समान बनने का संकल्प किया, वहां सबसे पहले

उसके समान वेष तो हमने बना लिया परन्तु भीतर से त्यागी तपस्वी मुक्त भक्त न हो पाये, वरन् उसके विपरीत त्याग का तप का भक्ति का अभिमान अधिक बढ़ गया और दूसरों की दृष्टि में त्यागी तपस्वी मुक्त या भक्त बनकर उनकी शक्ति सम्पत्ति के भोगी अवश्य बन गए।

हमें विरक्त सन्त ने सावधान किया है, यही सम्मति दी है कि जब तुम किसी को त्यागी तपस्वी ज्ञानी ध्यानी भक्त मुक्त हंस परमहंस मानते हो तब बाहरी वेष मात्र देख कर प्रणाम भले ही कर लो, साथ ही अन्न जल से तत्कालिक सेवा भी कर दो परन्तु आन्तरिक प्रकृति दर्शन के लिये गीता रामायण महाभारत श्रुति स्मृति में वर्णन किये हुए लक्षणों की खोज शोध करो। यदि तुम्हें अध्ययन का समय नहीं मिला है तब इतना तो स्मरण ही रखना कि किसी की देह को इन्द्रियों को तथा किसी से मन को तो त्यागी तपस्वी ज्ञानी ध्यानी सिद्ध सन्त महात्मा न मान लेना। तुम्हें मानना ही है देह इन्द्रिय मन बुद्धि तथा अहंकार के पीछे निर्विकार साक्षी नित्य शुद्ध परमात्मा को विद्यमान होने का विश्वास करना।

यदि तुम असावधान रहोगे तो बाहरी बनावट में रीझोगे और आगे चल कर उसी प्रकार तुम भी बनावट से दूसरों को धोखा दोगे– ऐसा करते हुए आज सहस्रों लाखों व्यक्ति सुखी रहते हुये सजावट बनावट के बन्धन में जकड़े हुए मन से अशान्ति का अनुभव कर रहे हैं।

हमें विरक्त सन्त ने यह भी समझाया कि वेष बनाकर तुम ऊपर से कितने ही जनों से अपनी पूजा कराओ, चरण धुलाओ, अपनी स्तुति प्रार्थना सुनवाओ, कोई उच्चासन पा जाओ, कितने ही शिष्यों के स्वामी हो जाओ, अपने को भगवान कहलाओ, अथवा अपनी सिद्धि के प्रचारक बनाओ, फिर भी तुम्हें वह आंतरिक महत्ता प्राप्त नहीं होगी जिसके द्वारा अगाध प्रसन्नता, समता, स्वाधीनता सुलभ होती है, जहां किसी वस्तु एवं व्यक्ति की दासता नहीं रह जाती।

हमें सावधान किया गया है कि तुम बाहरी दम्भ से बनावट सजावट से सहस्रों लाखों व्यक्तियों को अनुयायी शिष्य सेवक बना कर भले ही गुरु पद प्राप्त कर लो परन्तु तुम्हें वह गुरुता प्राप्त न होगी जिसे कोई सांसारिक कामना

वासना हिला नहीं पाती, जहां अखण्ड आनन्द की अनुभूति रहा करती है।

बाहर की सजावट बनावट का फल वाह्य जगत से धन, मान, भोग के रूप में मिला करता है। अन्तरंग त्याग तप वैराग्य सन्यास का फल संसार की ओर से नहीं अनन्त प्रभु के विधान से हुआ करता है।

गुरुजनों ने हम साधकों को सावधान कर दिया है कि किसी बाहरी आकृति की सजावट बनावट में नहीं रीझना और अपनी बाहरी सजावट एवं वेशभूषा की बनावट से दूसरों को रिझाने का प्रयास न करना।

जिन साधकों, विद्वान, त्यागियों, तपस्वियों, सन्यासियों के मन में धन की मान की भोग की वासना निर्वासित नहीं हो जाती वही कामना वासना से प्रेरित होकर विविध कलाओं का प्रदर्शन करते हुए दूसरों को रिझाते फुसलाते हैं। वीतराग पुरुष सावधान करते हैं।

पर मन पर धन हरन को वैश्या बड़ी प्रवीन।
तुलसी सोई चतुर है जो राम चरन लवलीन।।

रामकृष्ण परमहंस ने धन मान भोग चाहने वालों की गुरुवाई को वैश्या वृत्ति की उपमा दी है।

वही साधक सावधान है जो कामना वासना अहंता ममता देखते हुए उनके त्याग के लिये बाहर से भीतर आत्मा में स्थिर शान्त होने के लिये लौट रहा है।

सावधान बुद्धि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि हम जब तक दूसरों से मान प्यार अधिकार भोग-सुख चाहते हैं तब तक हमें दूसरों को प्रसन्न करने की रिझाने फुसलाने मुग्ध बनाने की आतुरता उत्सुकता रहती है और इसीलिये दूसरों के सामने अपनी योग्यता शक्तिमत्ता बुद्धिशालिता सद्गुण एवं ज्ञान सम्पन्नता और वाह्य सुन्दरता का प्रदर्शन करने में ही लगे रहते हैं।

जो कुछ हम दूसरों में उत्तम सुन्दर श्रेष्ठ सुखद मानकर मुग्ध होते हैं, वही सब कुछ अपने में देखना और दूसरों को दिखाना चाहते हैं।

सन्त ने हमें समझाया कि अज्ञानी की सारी सजावट बनावट दूसरों को भोगी बनाने के लिये है और दूसरों की सजावट बनावट अपने भोगी बनने के

लिये है।

जो भोगी नहीं बनना चाहते, दूसरों को भी नहीं बनाना चाहते वह अपने अन्तर में दैवी गुणों को बढ़ाते हैं अपने जीवन को सुन्दर बनाते हुए दूसरों की सेवा करते हुए अपने को सुधन्य मानते हैं और प्रभु की दया कृपा का अनुभव करते हैं।

सन्त का तो यही निर्णय है-

सुनहु तात माया कृत गुण अरु दोष अनेक।
गुण यह उभय न देखि अहिं देखिय सो अविवेक।।

किसी में गुण देखने से उस व्यक्ति से राग बढ़ेगा, इसीलिये किसी की स्तुति होती है, किसी की निन्दा चलती है– यह अविवेकी ही करते हैं। जो विवेकी जन हैं, वह किसी व्यक्ति में गुण दोष का आरोपण करके मायाकृत मानकर माया को ही नमस्कार करते हुए मौन रह जाते हैं।

हमें सन्त ने सावधान किया कि तुम्हें जहां कहीं गुण दीखें उन्हें गुण निधान भगवान के समझो और दोषों से तो दृष्टि ही हटा लो, वह दृष्टि अपने भीतर दोषों की खोज में लगा दो।

जब तक जीव परमात्मा से विमुख रहता है, जितने अंश में रहता है उतने अंश में दोष रहते ही हैं और वह दुःख देने के लिये रहते हैं, जिससे जीव दोषों का त्याग कर गुण निधान प्रभु के सम्मुख हो जाये।

जब हम किसी व्यक्ति को उदार दानी सरल प्रेमी त्यागी तपस्वी विरक्त भक्त ज्ञानी ध्यानी मान लेते हैं तदनुसार ही जब उसकी पूजा स्तुति सेवा करने लगते हैं तब उसके शरीर तथा इन्द्रियां एवं मन की दुर्बलताओं का परिचय मिलते ही श्रद्धा के स्थान में अश्रद्धा हो जाती है, स्तुति के पीछे निन्दा होने लगती है।

सन्त की बहुत ही हितकर सम्मति है कि किसी में गुण दोष न देखना सर्वोपरि गुण है किन्तु ऐसी दृष्टि तभी हो सकती है जब सर्वत्र सब में परमप्रभु का ही सौन्दर्य माधुर्य ऐश्वर्य दीखने लगे और इस प्रकार दर्शन की दृष्टि प्रभु कृपा से ही सुलभ होती है।

जब तक परमात्मा की व्यापकता का अनुभव प्रत्येक नाम रूप में नहीं होता तब तक मायाकृत गुण दोष मय संसार ही दीखता है जो कि प्राणी को कहीं रागी कहीं द्वेषी बनाता है।

यथार्थ ज्ञानवानी विनाशी नाम रूपों की सजावट बनावट में मोहित नहीं होता है और न ही वह दूसरों को अपने नाम रूप में मोहित करने के लिये शरीर को सजाते रहने का पक्ष लेता है। वह निर्वाह मात्र के लिये शरीर में वस्त्र धारण करता है या फिर दूसरे लोगों की प्रसन्नार्थ उनके अधिकार की रक्षा के लिये उनकी रुचि पूर्ति के लिये मर्यादित श्रृंगार स्वीकार कर लेता है फिर भी राग द्वेष से रहित रहता है क्योंकि वह केवल प्रभु का ही अनुरागी होता है।

हमें यह भी समझाया गया है कि अपने लिये सदा सावधान रहना। जब कोई तुम्हें कुछ बनाये– मित्र बनाये, भाई बनाये, दानवीर, धर्मात्मा, परोपकारी बनाये, अथवा जब तुम्हें कोई त्यागी, तपोनिष्ठ, सिद्ध, सन्त, महात्मा, गुरु बनाये, तब उसकी बनावट अपने ऊपर ओढ़ न लेना; क्योंकि जब तक तुम किसी के बनाये हुये कुछ बनोगे, तब तक उसके बिगाड़ने से बिगड़ भी जाओगे। जिसके द्वारा तुम कुछ बनोगे उसी की अधीनता में रहना होगा। उसकी अनुकूलता को देखना होगा।

वास्तव में यथार्थदर्शी सावधान पुरुष वही है जो भगवान के बनाये बने हैं, इंसान की बनावट से बचे हुए हैं।

सावधान होकर अपने को देखो! तुम्हें परमेश्वर ने कैस बनाया है? पूर्ण शान्त होकर देखो तुम्हें स्वरूप कैसा मिला है और स्वरूप के ऊपर रूप कितने निश्चित कर रक्खे हैं? पढ़ने सुनने में आता है, चौरासी लाख रूप सृष्टि के रचयिता ने बनाये हैं। रूप चाहे जितने बदले जायें पर स्वरूप नित्य एक रस शाश्वत रहता है।

तुम सावधान होकर स्वरूप को समझो और पुनः स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चय करो कि अब कौन सा रूप धारण करना चाहते हो? अथवा स्वरूप में स्थिर होना चाहते हो।

अविवेकी जनों को सन्मान, सम्पत्ति, प्रिय संयोग, सुखोपभोग अत्यन्त प्रिय सुखदायी दीखते हैं, विवेकी जन सावधान होकर इस प्रकार के **सुखोपभोग**

के परिणाम में महान दुःखों का दर्शन करते हैं।

विवेकी महात्मा ही सुख लोलुप साधकों को सावधान करते रहते हैं कि तुम न तो किसी बनावट सजावट में फंसो और न स्वयं को कुछ बनाओ। तुम भीतर के सत्य को देखो, 'स्व' को जानो, 'पर' को अपना न मानो।

अनुभवी सन्त तथा हमारे भगवान सावधान रहने का सन्देश देते आ रहे हैं। उन्होंने समझाया है कि तुम्हारे पास जो कुछ शुभ सुन्दर है, जो धन धान्य है, उसका सुपात्र को दान करो पर दानी कहलाने की भूल न करो। तुम धर्माचरण करो पर धर्मात्मा का रूप न बनाओ।

तुम मिली हुई योग्यता तथा शक्ति सामर्थ्य से सेवा अवश्य करो परन्तु मान, धन, भोग की कामना रख कर सेवक होने का ढिंढोरा न पीटो।

सन्त ने हमें यह भी समझाया है कि तुम अपनी दुर्बलता की निवृत्ति और शक्ति प्राप्ति के लिये कर्तव्य पालन करते हुये सेवा सदाचार को निभाते हुये कष्ट सहिष्णु होकर तप करो परन्तु लोगों की दृष्टि में तपस्या का प्रदर्शन करते हुए तपस्वी न बनो।

तुम अहंता ममता आसक्ति कामना अर्थात् संकल्पों का त्याग अवश्य करो परन्तु भीतर से मान भोग धन तथा शिष्य शिष्याओं के रागी रह कर ऊपर से सन्यासी न बनो।

तुम जगत के भोग सुखों से, मान माया से, मन हटा कर सर्वत्र उदासीन रहो परन्तु वेष मात्र दिखा कर उदासी न बनो।

सन्त ने कहा, तुम भीतर से भोगों को दुःखमय देखकर सर्वत्र शब्द स्पर्श रूप रस के राग को छोड़ दो परन्तु बाहर वेष धारण कर विरागी न बनो।

तुम घुले-मिले हुए जीव को जड़ शरीर से अथवा माया से लिपटे हुए ब्रह्म तत्व को हंस की भांति अलग-अलग अनुभव करो परन्तु वेष मात्र से हंस परमहंस कहलाकर सन्तोष न मानो।

हमें यह भी समझाया गया है कि जिस प्रकार कच्ची गिरी पक कर नारियल के भीतर अलग हो जाती है उसी भांति तुम देह इन्द्रियां मन बुद्धि रूपी संघात के भीतर असंग होकर अपने परम प्रभु का नित्य निरन्तर 'स्व' में

अनुभव करो परन्तु बाहर कुछ तन्त्र मन्त्र द्वारा चमत्कार दिखाकर सिद्ध बनकर मान पूजा में न फंसो।

यह सब सुनकर मान लेना समझ लेना और दूसरों को समझा देना सुगम है पर अपने को बनावट सजावट के बन्धन से मुक्त कर लेना किसी सावधान पुरुषार्थी के लिये ही सम्भव है अन्यथा सर्व साधारण सुख लोलुप साधक के लिये अति कठिन है।

सन्त ने एक उपाय यह भी बताया है कि जिस विकार का एवं कामना वासना का त्याग करना तुम्हारे लिये कठिन दीखता हो, उसके लिये अपने भीतर आत्मा रूप परमात्मा से शान्त होकर दुःखी होकर प्रार्थना करो और प्रभुकृपा की प्रतीक्षा करो।

बालकों के हित में सावधान रहो

सुख और हित में बहुत अन्तर है। सुख के प्रति पशु पक्षियों का भी आकर्षण होता है, परन्तु हित का ज्ञान विवेकी मनुष्य को ही होता है।

सुख की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा विषय सेवन से होती है। हित का ज्ञान बुद्धि द्वारा सुखोपभोग का परिणाम देखकर होता है। सुखासक्त व्यक्ति न अपना हित कर सकता है न दूसरों का ही कर सकता है।

सुखासक्त व्यक्ति के द्वारा न सेवा पूर्ण होती है न त्याग पूर्ण होता है न प्रेम ही पूर्ण होता है।

बालकों के सुख का वहीं तक पक्ष लेना चाहिये जहां तक उसका अहित न हो।

जिस सुख भोग से अधिक धन खर्च होता है, अमर्यादित रूप से शक्ति घटती है, अभिमान तथा मोह एवं अधिक प्रतिकूलतायें रहती हैं, राग द्वेष अधिक बढ़ता जाता है वही सुख विशेष अहितकारी है।

सन्तान के चरित्र गठन में संरक्षकों को पांच वर्ष की आयु से ही सावधानी पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

बालकों का शरीर भले ही छोटा हो परन्तु क्रोध, लोभ, मोह, छोटा नहीं होता। न्यूनाधिक मात्रा में आरम्भ से बालकों में रूप के प्रति, शब्द के प्रति, स्वाद के प्रति आकर्षण रहता है। रुचि की प्रतिकूलता में क्रोधादि विकार भी प्रबल रहते हैं। सात वर्ष से चौदह वर्ष तक इन्द्रियों में विषय ग्रहण की शक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार चौदह वर्ष से इक्कीस वर्ष तक मन में सुखोपभोग की कामनायें तथा मनोगत पूर्वाभ्यस्त सुसंस्कार और कुसंस्कार जाग्रत होते हैं।

सात वर्ष से चौदह वर्ष तक इन्द्रियों से उभड़ने वाले विषय संस्कारों का निरोध करने से मन में संकल्प बल बढ़ता है। चौदह वर्ष से इक्कीस वर्ष तक कामनाओं की पूर्ति में व्यय होने वाली शक्ति को संयमित रखते हुए विद्योपार्जन में व्यस्त रहने से बुद्धि में ज्ञान की वृद्धि होती है।

सावधान माता-पिता तथा आचार्य गुरु अपने बालकों को परिश्रमी एवं संयमी बनाते हैं, आलस्य असंयम से बचाते रहते हैं। आलस्य से विलासिता से बालकों की बड़ी क्षति होती है, बौद्धिक उन्नति रुकती है।

सावधान विवेकी माता-पिता अपनी सन्तान को भोग सुखों का दुष्परिणाम दिखाते हैं, संयमी होने की प्रेरणा देते हैं। बालकों को कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, ईर्ष्यालु, छली, कपटी, दम्भी बनने की कहीं शिक्षा नहीं दी जाती। बिना शिक्षा के ही छोटे-छोटे बालकों में सभी प्राणियों में दुर्विकार पाये जाते हैं। मनुष्य की सन्तान को ही संयम सदाचार सद्व्यवहार सद्गुण विकास की शिक्षा दी जाती है। जो इस शिक्षा को नहीं मानता वह असुरवत् है।

शिक्षा-दीक्षा का सम्बन्ध तन से, इन्द्रियों से नहीं है, बुद्धि से है। इसीलिये माता-पिता को सावधानीपूर्वक बालक बालिकाओं को स्वच्छन्द न बनाकर अनुशासन में मर्यादा में रखना चाहिये जिससे कि इन्द्रियों द्वारा विषयों की ओर प्रवाहित शक्ति संयमित होकर बुद्धि को बलवती बनाये। बलवती बुद्धि ही विद्या, विवेक को धारण कर पाती है। जिसकी शक्ति इन्द्रियों द्वारा ही व्यय होती रहती है, जिनका मन कहीं रूप में, रसास्वाद में, स्पर्श में, शब्दादि विषयों में आसक्त हो जाता है उनकी बुद्धि बलवती नहीं

हो पाती।

विलासी व्यक्ति सदा असंतुष्ट रहता है। जितनी भोग-वृत्ति बढ़ती है, उतना ही शक्ति का ह्रास सद्गुणों का नाश होता है।

इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में सुख की प्रतीति मनुष्य को ही नहीं पशु-पक्षी कीट पतिंगों को भी होती है, परन्तु हित का ज्ञान केवल बुद्धिमान मनुष्य को ही होता है। इन्द्रियों के द्वारा मन विषय स्पर्शी होता है किन्तु बुद्धि विषय स्पर्श के द्वारा मिलने वाले सुख के परिणाम का दर्शन करने वाली होती है।

बालक-बालिकाओं को जहां कहीं से मधुर शब्द में सुख मिलेगा, स्वाद का सुख मिलेगा, स्पर्श सुख मिलेगा, सुन्दर रूप देखने का सुख मिलेगा, वहीं आसक्ति बढ़ेगी। जितना अधिक बालक-बालिकाओं को स्वच्छन्दतापूर्वक विषय सुखों की सुविधायें दी जाती हैं उतना ही उनका अहित होता है, उनकी स्वाधीनता नष्ट होती है।

विषय जनित सुखासक्ति ही लोभ, मोह, काम का रूप धारण कर लेती है। जो माता-पिता बालकों के हित में सावधान नहीं होते वे ही सुख की सुविधायें देकर वस्तुओं तथा व्यक्तियों की दासता में बंधते जाने का अवसर अपनी सन्तान को देते हैं।

किसी भी बालक-बालिका को जन्म लेने के पश्चात् रूप, शब्द, रस, स्पर्शादि विषय सुखोपभोग के प्रति स्वभावतः आकर्षण होता है किन्तु उसके परिणाम का ज्ञान नहीं होता।

इन्द्रियों की गति शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयों तक है, मन की गति विषय जनित सुखास्वाद तक है। सुखोपभोग के परिणाम को बुद्धि द्वारा ही देखा जा सकता है।

बुद्धि-विवेक द्वारा ही हित का ज्ञान होता है, इसीलिये जब तक बालक-बालिकाओं में समुचित बुद्धि विकसित नहीं हो जाती और विचार विवेक पूर्वक कर्तव्य अकर्तव्य तथा धर्माधर्म के निर्णय करने की शक्ति जब तक नहीं आ जाती तब तक बड़ों गुरुजनों की आज्ञा अनुसार कर्म करना ही सन्तान

के लिये हितकर है।

प्रायः माता-पिता अपनी सन्तान से अधिक मोह रखते हुये उनके मन की पूर्ति करते हुए उन्हें आलसी, विलासी, स्वच्छन्द, भोगी बना देते हैं।

इन्द्रियों से जब विषयों का संयोग होता है और वह संयोग जब मन के अनुकूल बन जाता है तभी मन की एकाग्रता में सुख की प्रतीति होती है। सुख की प्रतीति भी उतनी ही अधिक होती है जितनी अधिक प्रीति होती है। अधिक प्रीति भी तभी होती है जब वह कई वस्तुओं, व्यक्तियों में बिखरी नहीं होती।

बाल्यकाल में संचित प्रीति द्वारा बालक जिस किसी वस्तु व्यक्ति की कामना करते हैं– बहुत ही तीव्र उत्सुकता उत्कण्ठा उनके मन में उसके संयोग की होती है। इसीलिये इच्छित वस्तु अथवा व्यक्ति के मिलने पर अत्यधिक अधीरता अथवा दुःख भी होता है।

बालकों के संरक्षकों का कर्तव्य है कि अपनी सन्तान की सभी इच्छाओं की पूर्ति न करें। आवश्यकता की पूर्ति तो होनी ही चाहिए। बालकों को संग-दोष से बचाते रहें। उन्हें समझाते रहें कि कोई भी मनुष्य विपुल धन, सम्पत्ति, उच्च्य पदाधिकार, बड़े परिवार के सहारे सदा सुखी नहीं रह सकता, क्योंकि संसार में जो कुछ मिलता है सब परिवर्तन युक्त है, नश्वर है।

बालकों के गुण विकास में ज्ञान-वृद्धि में तथा विद्याध्ययन में आठ सद्गुण अनुभवी विद्वानों ने सहायक बताये हैं- (१) शान्त रहना, (२) इन्द्रियों को वश में रखना, (३) दुःखदायी दोषों से बचते रहना, (४) सदाचार, (५) ब्रह्मचर्य, (६) अनासक्ति, (७) सत्याग्रह, (८) सहिष्णुता को धारण करना यही आठ गुण हैं।

बालकों को विद्याध्ययन में पांच बाधाओं से सावधान रहने की याद दिलाते रहना चाहिये– (१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) असंयम, (५) आलस्य, यह पांच दोष शिक्षा में बाधक बनते हैं।

जो माता-पिता अपनी सन्तान के हितैषी हैं, उन्हें सावधान रहना चाहिये कि बालक-बालिकाओं पर किसी की अमर्यादित वेष भूषा का तथा

किसी दुर्व्यसनी या दुराचारी का अनुचित खान-पान का प्रभाव न पड़ने पाये। अपनी संतान को सादा जीवन और ऊंचे पवित्र विचारों का महत्व समझाना चाहिये।

होली के त्योहार में एक माता ने रेशमी कपड़ा अपने पुत्र को पहिनाया, बालक बहुत प्रसन्न था, पिता को बालक की सजावट अहितकारी दीख रही थी। पिता ने बालक को बुला कर प्रेमपूर्वक खद्दर के वस्त्रों के गुण समझाये, चमक-दमक वाले वस्त्रों के दोष दिखाये। पिता के समझाने पर बालक ने उसी समय माता के सामने रेशमी कुर्ता उतार कर फेंक दिया और खद्दर का सादा कुर्ता पहनने का आग्रह किया। **यह है बालक पर उचित शिक्षा का तात्कालिक प्रभाव।**

वास्तव में वही विवेकी सद्गृहस्थ हैं जो अनन्त के विधान से मिलने वाली शक्ति योग्यता सामर्थ्य का सुखोपभोग में दुरुपयोग न करके सेवा में ही सदुपयोग करते हैं, उन्हीं का प्रभाव संतान के लिये हितकारी होता है। उन्हें सुख तो अनायास ही मिला करता है प्रत्युत सुख के अंत में दुख की सीमा को पार कर वह शांति का अनुभव करते हैं।

अविवेकी असावधान माता-पिता केवल सुख को ही देखते हैं, सुख के अंत में अनिवार्य दुःख को नहीं देख पाते, इसीलिये वह स्वयं भोगी तो रहते ही हैं, साथ में संतान को भी भोगी विलासी बनाते हैं।

यदि परिवार के माता-पिता स्वयं ही सत्य का तथा वर्णाश्रम धर्म और स्वधर्म का ज्ञान नहीं रखते हैं, जो स्वयं ही सदाचारी कर्तव्य परायण दैवी सम्पत्ति से युक्त नहीं हैं, जो केवल आयु को लेकर, धन को, पदाधिकार को लेकर, कुछ वस्तुओं को लेकर बड़े होने का अभिमान रखते हैं, वे मानव समाज में बहुत ही हलके छोटे आदमी सिद्ध होते हैं, वह अपने परिवार के हितैषी नहीं बन पाते।

जो माता-पिता, गुरुजन, धर्म, मर्यादा का पालन करते हैं, जो हितकर है उसी को करते हैं वही वेद शास्त्र मत से सद्गृहस्थ हैं। सद्गृहस्थ ही अपनी संतान के हितैषी होते है।

सुसंग ने मिलने के कारण कुसंग के प्रभाव से यदि किसी मनुष्य से भूल हो रही है तो वह गुरु-सन्देश, सन्त वचन, सद्शास्त्र अध्ययन के द्वारा सुधारी जा सकती है। इस संदेश के श्रवण पठन करने वाले पाठक अपने कर्तव्य पालन के लिये तत्काल सावधान हो सकते हैं और दीखने वाली भूलों का सुधार कर सकते हैं।

मैंने कुछ श्रीमन्त कुलों के बालक-बालिकाओं को देखा है कि जिनके माता-पिता में कोई भी दुर्व्यसन नहीं है, जो स्वभाव से थोड़ा बोलने वाले मितभाषी हैं, गंभीर हैं, आस्तिक हैं, जो कभी सिनेमा, नाटक, खेल तमाशों में नहीं आते, इसीलिये उनके बालक भी गम्भीर स्वभाव के तथा अपने माता-पिता के ही चरित्र का अनुकरण करने वाले मिले। मैंने यह भी देखा कि ऐसे शिष्ट परिवार के सभी विद्यार्थी अपनी-अपनी परीक्षा में प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण होते रहे। उन बालकों-बालिकाओं की शक्ति संयमित रह कर बुद्धिवर्द्धक बनती रही क्योंकि किसी बालक में न तो बाजार में घूमने की रुचि है न सिनेमा देखने का शौक है, इसलिये सबकी बुद्धि तीक्ष्ण है।

कुछ परिवार ऐसे भी मिले कि जहां बालकों की बुद्धि मन्द है, क्योंकि वे छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति में सिनेमा आदि में समय, शक्ति का दुरुपयोग करते हैं और बालिकाओं की बुद्धि तीक्ष्ण है क्योंकि उन्हें बाहर घूमने जाने का अवसर नहीं मिलता इसलिये प्रायः बालिकायें परीक्षा में सफल होती हैं, बालक अनुत्तीर्ण रहते हैं।

जिन परिवारों में धन की कमी है उन परिवारों के बालकों को कामना पूर्ति के अवसर कम मिलते हैं इसीलिये कुछ दीनता, नम्रता, सरलता रहती है किन्तु जहां सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य का योग है और परिवार के बड़े लोग भी यदि धर्म मर्यादा छोड़कर लोभी, भोगी, अभिमानी हैं तब तो उस परिवार की संतान प्रायः आसुरी वृत्तियों से ही भरी हुई मिलती है।

माता-पिता यदि संतान के हितैषी हों तो उन्हें चाहिये कि बालकों की इच्छाओं की पूर्ति मर्यादा के भीतर ही करें। बालकों की रुचि पूर्ति में जितना अधिक धन खर्च होता है, उतना ही उनकी पुण्य पूंजी घटती जाती है।

धनी घरों के, पदाधिकारी घरों के बालकों में प्रायः अभिमान, मद

अधिक बढ़ा-चढ़ा रहता है इसीलिये वे अपने से दीन, धनहीनों को प्रायः दुःख देते हैं, इससे उनके पाप बढ़ते हैं।

अपने बालकों की रुचि पूर्ति में जो भी खर्च हो, उसका दसवां हिस्सा निर्धन बालकों की आवश्यकता पूर्ति में खर्च करना चाहिये। ऐसा करने से भाग्यवान बालकों के पुण्य बढ़ेंगे।

जो बुद्धिमान धर्म कर्म के रहस्य को जानते हैं वही हर प्रकार के भोग भोगते हुए उसका हिस्सा बांट कर संतुष्ट होते हैं।

वह माता-पिता अविवेकी, अदूरदर्शी हैं जो अपनी शक्ति, सम्पत्ति, अधिकार के द्वारा अपनी संतान को आरंभ से ही आलसी, विलासी और अभिमानी बनने में सहायक होते हैं।

कोई विद्यार्थी आरम्भ से जितना संयमी, श्रमी होगा उतना ही शक्ति से भरपूर होगा और जितना ही आलसी, विलासी, असंयमी होगा, उतना ही कामनाओं का दास, ईर्ष्यालु, द्वेषी, अभिमानी होगा। अधिकतर आज इसी कोटि के बालक विद्यार्थी अधिक देखे जाते हैं। आज के बालकों में जहां तक उद्दण्डता, उच्छृंखलता, जोश देखा जाता है, यही उनके अशुद्ध मन का परिचय है। बहुत ही गिने-चुने अच्छे बालक मिलते हैं जिनमें बड़ों के प्रति शिष्टाचार की आदत हो, गुरुजनों के प्रति पूज्य भाव हो। **अधिकतर ऐसे ही विद्यार्थी दीखते हैं जिनमें आसुरी प्रकृति के लक्षण मिलते हैं।** इस प्रकार की मनःस्थिति का कारण संगदोष तो है ही इसके साथ ही बालकों के संरक्षकों की आसुरी प्रकृति का प्रभाव है जो बालकों में मानवता विकसित नहीं होने देती।

आसुरी प्रकृति की प्रधानता के कारण ही स्कूलों, कालेजों के लड़कों द्वारा आये दिन झगड़े, आक्रमण चलते रहते हैं। अपने देश के बालक अपने ही देश की सम्पत्ति को क्षति पहुंचाते हैं। मारपीट करते हैं। जब दो चार मृत्यु की भेंट हो जाते हैं, मार खाते हैं तब शांत होते हैं।

देश सेवा, जाति सेवा, परिवार सेवा में शक्ति के सदुपयोग का होश नहीं है; अपने संकल्प की पूर्ति का जोश सभी बालकों में पाया जाता है, यह घोर अनुशासनहीनता, दानवी प्रकृति का परिचय है।

जिनके माता-पिता, संरक्षकों, बड़ों ने गुरुजनों के अनुशासन को

स्वीकार किया है, उन्हीं के बालकों में अब भी अनुशासन में रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यह प्राकृतिक विधान जिनकी समझ में आता हो, वह माता-पिता, संरक्षक अपनी संतान के हित के लिये स्वयं धर्मशास्त्रों की मर्यादा में तत्वदर्शी रहकर ज्ञानी गुरुजनों के अनुशासन में कर्तव्य परायण बने रहें, तभी बालकों के हितैषी हो सकते हैं।

हमें यह भी समझाया गया है कि बड़ों की अर्थात् ज्ञानी, वृद्ध, गुरुजनों की आज्ञापालन करते हुए ही कोई छोटा व्यक्ति बड़ा मनुष्य हो सकता है। गुरु अनुशासन में रह कर ही कोई सेवक स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। जो मन मुखी है, अपनी इच्छा पूर्ति के लिये स्वच्छन्द है, वह गुरु अनुशासन का विरोधी मन की दासता में आबद्ध रहता है। जो सेवक नहीं बनता, उसे स्वामी पद प्राप्त नहीं होता। जो अपने तन को अथवा इन्द्रियों की आदतों में स्वामित्व नहीं प्राप्त करता, उसी के अनेकों स्वामी हुआ करते हैं। उसे अनेकों मालिकों के आगे झुकते रहना पड़ता है, उसे ही तन की, इन्द्रियों की, मन की, धन की अथवा अनेकों सुखद वस्तुओं एवं व्यक्तियों की दासता में नाचना पड़ता है।

बालक आरम्भ में यह पढ़ते सुनते हैं कि गुरुजनों का, अपने से बड़ों की आज्ञापालन करो, सदा सत्य बोलो, क्रोध न करो, सरल विनम्र रह कर बड़ों की सेवा करो। इन वाक्यों को प्रायः दानवों के बालक भले ही न पढ़ें सुनें, मनुष्यों के बालक तो अवश्य बाल्यावस्था में ही पढ़ लेते हैं परन्तु व्यवहार में बर्ताव में विरले ही ला पाते हैं। इसीलिये ऐसे बालक आगे चलकर धनी भले ही बन जायं, बलवान भले ही बन जायं, उन्हें कोई माना हुआ उच्च अधिकार भले मिल जाये, परन्तु आदर्श मानव नहीं हो पाते।

आज के समय में प्रायः बड़ा आदमी वही माना जाता है जिसका भवन बड़ा हो, जिसके मोटर कार हो, जो किसी फर्म का या मिल का मालिक को। इसका अर्थ तो यही निकलता है कि उस मनुष्य का मूल्य कुछ नहीं प्रत्युत मूल्यवान वह ऊंची दीवालों का पक्का भवन है, मूल्यवान वह मोटर कार है, मूल्यवान वह दुकान है, अथवा मिल व्यवसाय है, जिसके कारण मनुष्य का मूल्य बढ़ाया गया है और बड़ा आदमी माना गया है।

वास्तव में विवेकी पुरुष उसी को बड़ा आदमी अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष

कहते हैं जिसमें सत्य का ज्ञान है, जो धर्म परायण है, जिसकी भावना पवित्र है, जिसके कर्म शुद्ध हैं, जो अपने से छोटों को बड़ा बनाते रहने के लिये तत्पर है, जिसकी छाया में दुःखों से तप्त प्राणी शीतलता का अनुभव उसी प्रकार करते रहते हैं जिस प्रकार धूप से तप्त प्राणी सघन बड़े वृक्ष की छाया में करते हैं।

हमने गुरुजनों के द्वारा यही सुना है कि पशुओं में वही बड़ा है जिसका शरीर बड़ा है, बड़े ऊंचे शरीर धारियों में वही बड़ा है जो बल में अधिक है। असुरों दानवों में वही बड़ा है जो शक्ति के साथ छल में अर्थात् मायावी प्रयोगों में अधिक हो। मनुष्यों में वही श्रेष्ठ है जो बुद्धिमान विद्यावान हो। बुद्धिमानों विद्वानों में वही श्रेष्ठ है जो धर्मनिष्ठ कर्तव्य परायण हो। धर्मनिष्ठों में वही बड़ा है जो संसार में निरासक्त हो, भोगों से विरक्त हो। विरक्तों में भी वही बड़ा है जो स्व को अर्थात् आत्मा को जानता है। ज्ञानियों में अधिक श्रेष्ठ वही है जो मुक्त हो और प्रभु का भक्त हो।

जिसे अपने से अधिक श्रेष्ठ का ज्ञान नहीं होता, उसी को अपनी श्रेष्ठता का अभिमान रहता है। अभिमानी ही श्रेष्ठता का भोगी बन कर नीचे गिरता है और ज्ञानी अभिमान के बोझ से रहित होकर ज्ञान का आश्रय लेकर ऊपर चढ़ता है, वही सर्वोच्च पद में प्रतिष्ठित होता है।

सर्वोच्च वही है जो सर्वोपरि महान् परमात्मा का योगी होता है। योगी को ही पूर्ण विश्राम सुलभ होता है।

इस सावधान सन्देश के पाठकों को सावधानी से मनन करने पर यह निर्णय मिलता है कि इस प्रकार के सन्देश के प्रति रुचि रखने वाले सहस्रों बुद्धिमानों में कोई विरले ही अपनी भूलों को, अपनी दुर्बलताओं को देख पायेंगे और उन स्वदोष दर्शकों में कोई विरले ही भूल सुधार का, दुर्बलताओं की निवृत्ति का दृढ़ संकल्प कर सकेंगे।

हर एक मनुष्य जिस भूल को अथवा जिस वासना को, जिस क्रिया को, जिस विषय को, अधिक दुहराता रहता है उसी का सहज स्वभाव बन जाता है और उसके दुष्परिणाम को देखते हुए भी उस भूल का, उस वासना मन का, उस अहितकर क्रिया का, पद्धति का, स्वीकृत भावना का त्याग करना अति कठिन दीखता है।

यदि किसी सज्जन में बालकों के सुधार का उनके हित का दृढ़ संकल्प हो तो आगे बालक-बालिकाओं के हित के लिये कुछ चेतावनी दी जा रही है।

बालकों के संरक्षकों के लिये गुरु निर्देश

यदि आप बालकों के हितैषी हैं तो इन अटठ्ाईस बातों के लिये सावधान रहें-

(१) बालकों को विनोद में भी असत्य बोलने से रोको।

(२) बालकों को अपवित्र भद्दे वाक्य बोलते हुए मना करो।

(३) बालकों के आगे झूठ न बोलो, उनसे भी झूठ न कहलाओ।

(४) बालकों के साथ वार्तालाप में सुन्दर शब्दों का प्रयोग करो।

(५) बालकों के आगे किसी की, पड़ोसी की, निन्दा-बुराई न करो, उनके मन में घृणा द्वेष के विचार न भरो।

(६) स्वच्छन्द अनुशासन हीन बालकों के संग से अपने बालकों को बचाओ।

(७) कुसंग के दुर्व्यसन के परिणाम समझाते रहो।

(८) बालकों को मनमानी खर्च के लिये धन न दो। उनकी आवश्यकता स्वयं पूरी करते रहो।

(९) उतने ही श्रृंगार की पूर्ति करो जितना देखने वालों को प्रिय लगता हो। बालकों के मन में अभिमान न बढ़ने दो, यथाशक्ति सादे वस्त्रों का ही पक्ष लो।

(१०) बालकों की विद्याध्ययन काल में विवाह होने के प्रथम सिनेमा देखने से बचाते रहो।

(११) कामी कलाकारों के गाये हुए सुन्दरियों के रूप सम्बन्धी गीतों के रिकार्ड बजाने को मना करो।

(१२) बालक बालिकाओं को परिश्रमी बनाने के लिये आलस्य छुड़ाने के

लिये सेवा कार्यों में तथा अध्ययन में व्यस्त रक्खो।

(१३) बालकों को आरम्भ से ही धर्म तथा ईश्वर के विषय में जितना स्वयं समझते हो, उतना तो समझा ही दो। इसके साथ ही बड़े होने के नाते अधिक से अधिक तुम स्वयं ज्ञान प्राप्त करो और अपनी संतान को ज्ञानी बनाओ।

(१४) बालक बालिकाओं को व्यवहारिक कलायें सिखाने के साथ ही सेवा के द्वारा अनुकूल परिस्थिति के सदुपयोग तथा कामनाओं, इच्छाओं के त्याग द्वारा दुखद परिस्थिति के लिये भली भांति सावधान कर दो।

(१५) अपने साथ ही बालकों को त्यागी, विरक्त ज्ञानी सन्त महात्माओं के प्रवचनों के सुनने का अवसर दो।

(१६) बालकों के जोश में होश भरते रहो। होश से रहित जोश के दुष्परिणाम दिखाते रहो।

(१७) यदि तुम स्वयं दुर्व्यसन की विलासिता की दासता से बचे हो तो बालकों को अधिक खटाई, अण्डे, मिठाई, मिर्च, प्याज आदि तामसी आहार से बचाते रहो। तामसी आहार के तमोगुण संग के दोष और सतोगुणी आहार के गुण समझाते रहो।

(१८) बालक बालिकाओं के उपन्यासों, भोगीजनों की कहानियों के अध्ययन से बचाते रहो।

(१६) अपने धर्म ग्रन्थों के अध्ययन करने की प्रेरणा दो।

(२०) यदि तुम दूरदर्शी माता-पिता हो तो बालकों बालिकाओं को जो संयोग के अंत में वियोग का, लाभ के अंत में हानि का, जिसका जन्म हुआ है उस देह की मृत्यु का, परापेक्षी सुख के अंत में होने वाले दुःख का और जो आगे देखना ही पड़ेगा, उसका अभी ज्ञान करा दो, समझा दो।

(२१) यदि तुम संतान का हित चाहते हो तो चौबीस साल तक विद्यार्थी को दुर्व्यसन से, विलासिता से, विवाह से, घरेलू चिन्ताओं से, आसक्तियों से, अभिमान से, क्रोध से, कामोपभोग के अवसरों से बचाते रहो।

(२२) युवक बालकों और बालिकाओं के साथ शिक्षा के दुष्परिणाम का यदि अनुभव हो चुका हो, यदि गुप्त भ्रष्टाचार की घटनाओं का पता लग चुका हो तो अपनी बालिकाओं को लड़कों के साथ पढ़ने से बचाते रहो।

(२३) किसी भी बाहरी व्यक्ति से सयानी बालिकाओं को अधिक मिलने का अवसर न दो।

(२४) बालक बालिकाओं को आरम्भ से ही रामायण की धर्म सम्बन्धी चौपाई तथा श्रुति स्मृति के धर्म सम्बन्धी श्लोक कण्ठस्थ करा दो।

(२५) यदि तुम आस्तिक हो तो अपनी संतान को भी आस्तिक होने के लिए, साधना के लिए प्रेरित करो, अपनी मान्यता के अनुसार उन्हें जप, स्मरण, प्रार्थना, पूजा के नियम में बांध दो।

(२६) विद्यार्थियों को संयमी शक्तिशाली विद्वान बनाने के लिये व्यर्थ वार्ता, व्यर्थ श्रवण, व्यर्थ भ्रमण, व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ दर्शन न करने के लिये सदा सावधान करते रहो और स्वयं भी सावधान रहो।

(२७) परिवार में शुद्ध संस्कार पुष्ट करने के लिये नित्य नियम से सबको एकत्रित करके प्रार्थना करो और कुछ मिनट भगवान की, सन्तों भक्तों की वाणी पढ़ कर सुनाओ। अर्थात् घर में नित्य सत्संग करो।

(२८) यदि दुर्भाग्य से कोई तुम्हारी प्रेरणानुसार सत्पथगामी न होकर कुपथगामी बन जाये तब उसको सुखी देखने के पक्ष में न रह कर उसकी सुखासक्ति का अंत दुःख में देखने के लिये आतुर प्रतीक्षा करो क्योंकि अमर्यादित सुखासक्त जीव का हित दुखानुभूति द्वारा ही होता है।

ममता में सावधान

सन्त सावधान कर रहे हैं-

तुलसी ममता राम सो समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुःख दास भये भव पार।।

मिली हुई वस्तु को अपना मान लेने से ममता होती है। मिली हुई वस्तु तथा व्यक्ति को अपना न मान कर दाता की मानने से ममता नहीं रहती है, प्रत्युत् वही ममता सदा देते रहने वाले परम प्रेमास्पद दाता प्रभु के प्रति हो जाती है। जो दाता अपने से कभी भी नहीं बिछुड़ता है, ऐसे दाता प्रभु से प्रेम करने वाला ही सावधान है। दाता को भूल कर मिली हुई वस्तु से प्रीति करने वाला असावधान है।

यदि किसी यात्री से कह दिया जाय कि सावधान रहना, आगे मार्ग में सांप रहता है, या शेर रहता है अथवा चोर रहते हैं। ऐसी बात सुन कर हर एक यात्री या तो यात्रा बंद कर देगा या फिर सांप, शेर, चोर मिल जांय, इस आशंका से सतत् सावधान रहेगा।

इसी प्रकार हमें गुरुजनों ने सावधान किया है कि संसार में जिस किसी देहादिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों का संयोग होता है, उसी का वियोग होता है। जो अपने से भिन्न है, उसी का संयोग होता है। जो अपने से भिन्न है, वह शाश्वत सत्य नित्य नहीं हो सकता। जो शाश्वत है, नित्य है, निरन्तर सत्य है, वह अभिन्न नहीं हो सकता। जो अभिन्न है, उसी का नित्य योग है।

एक बार मैं इन्हीं संत वाक्यों को श्रोताओं के मध्य कह रहा था कि जिस किसी प्रिय सम्बन्धी के साथ तुम लोग सुख मानते हो, उन्हीं के वियोग में किसी दिन दुःखी होना पड़ेगा। किसी के सामने ही पुत्र न रहेगा या पिता न रहेगा, पति के सामने ही पत्नी न रहेगी या फिर पत्नी के सामने ही पति का शरीर छूटेगा, इस प्रकार की प्रिय वियोग की चर्चा मोही जनों को प्रिय नहीं लग रही थी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कोई कह रहा है कि प्रातःकाल आप प्रियजनों के वियोग की बात क्यों सुना रहे हो? इस पावन बेला में शुभाशीर्वाद दो कि संयोग का कभी वियोग न हो।

मैंने तत्क्षण आशीर्वाद देना आरम्भ किया कि 'आपके प्रिय स्वजन सम्बन्धी कभी नहीं छंटेंगे। सदा माता-पिता जीवित रहेंगे, पति-पत्नी का परस्पर वियोग कभी होगा ही नहीं, आप सबका शरीर जैसा है वैसा ही प्रलय काल तक बना रहेगा। पुनः मैंने सभी से पूछा कि बताओ, मेरे इस शुभाशीर्वाद पर विश्वास करते हो?'

उस समय एक भी व्यक्ति ऐसा न निकला जिसने मेरे कथन में विश्वास किया हो क्योंकि सभी को संशय रहित ज्ञान था कि जिस किसी से इस समय संयोग हो रहा है उसी का एक दिन वियोग अवश्य ही होगा।

आश्चर्य की बात यही है कि सभी मनुष्य जानते हैं, सभी को संशयरहित ज्ञान है कि किसी दिन यह देह नहीं रहेगी। सम्बन्धियों के शरीर एक-एक करके छूटेंगे ही, फिर भी उन्हीं सम्बन्धियों से तथा अपनी देह से ममता दृढ़ हो रही है।

जिस किसी की समझ में यह बात आ रही हो, वह ममता त्याग के लिये सावधान रहे। वस्तु तथा व्यक्ति चाहे जब छूटे पर ममता अभी छोड़ देनी चाहिये। जड़ भरत जैसे महान् तपस्वी त्यागी को भी ममता के कारण नीची योनि में जाना पड़ा है। इसीलिये **धन में ममता रखने वाला सर्प योनि पाता है। ममता से पतन होता है।**

हमें यथार्थदर्शी तत्ववेत्ता ने सावधान किया है कि उसे अपना मानकर मोही, लोभी, अभिमानी न बनो– जो तुम्हें किसी ने दिया है, प्रत्युत उस नित्य दाता को ही अपना मानो और प्रीतिपूर्वक स्मरण करते रहो।

यह तुम्हारा प्रमाद है कि मिली हुई देहादिक वस्तु को, योग्यता को, सामर्थ्य को अपनी मानते हो और जिसने दिया है उसे भूले हुए हो। इस भूल के रहते तुम्हें अगणित दुःख ने चाहते हुए भोगने पड़ें हैं और चाहते हुए भी तुम्हारा माना हुआ सुख लुट गया है क्योंकि जिसे अपना मान कर तुम सुखी होते हो वह तुम्हारा नहीं है। जो तुम्हारा नहीं है, जिस पर तुम्हारा अधिकार नहीं है वही तुम से छिन जाता है किन्तु मन में उसकी ममता बनी रहती है, वही दुःख देती है।

जो तुमसे कभी नहीं छिनता है, जो तुम्हें कभी नहीं छोड़ता है जो

तुम्हें देता ही रहता है और बदले में भी कुछ नहीं चाहता है, वही एकमात्र परम प्रेमास्पद परमात्मा तुम्हारा है, उसे ही बिना देखे ही अपना परमाश्रय जानकर प्रेम करो।

संत ने हमें सावधान किया है कि तुम्हारे अपने वे ही हैं जिन्हें तुम नहीं जानते प्रत्युत जो तुम्हें जानते हैं जिन्हें तुम अपने समक्ष नहीं देख पाते वरन जो तुम्हें निरंतर ही देखते रहते हैं उन्हीं पर अविचल आस्था, श्रद्धा और आत्मीयता दृढ़ करने के लिये संत प्रेरित करते हैं।

विवेकपूर्वक सावधान होकर निरीक्षण करने पर दिखाई देता है कि जहां कहीं किसी वस्तु में तथा किसी सम्बन्धित व्यक्ति में शक्ति सम्पत्ति में एवं किसी अधिकार में ममता है, अहंकार है, अभिमान है अथवा किसी से भी अधिकार पूर्वक सुख की कामना है, वहां अपना मानने की भूल चल रही है। जहां तक यह भूल चलती है वहां तक दुःख नहीं छूटते हैं।

दुःखों का अंत करने के लिये हम सभी साधकों को भूल का अंत, भ्रम का अंत, अज्ञान का अंत करना है। भूल, भ्रान्ति, अज्ञान का अंत कर्म से नहीं होता, ज्ञान से ही होता है और ज्ञान इतना हो कि - जो कुछ मिला है वह अपना नहीं है जिससे सब कुछ मिला है वही अपना है, वह सर्वत्र नित्य प्राप्त है।

हमें यह भी समझाया गया है कि परम प्रभु से आत्मीयता जुड़ जाने पर संसार की वस्तु व्यक्ति से ममता स्वतः छूट जाती है या फिर विवेक द्वारा वस्तुओं, व्यक्तियों से ममता टूट जाने पर प्रभु के प्रति आत्मीयता जुड़ जाती है।

हृदय से अपना न मानने पर ममता टूटती है और अपना मानने से आत्मीयता जुड़ती है।

सावधान होकर देखो तो कोई वस्तु ऐसी नहीं मिलेगी जिसका मालिक पहले से नहीं हो, तब तुम बीच में कितने समय के लिये किसी वस्तु को अपना मानते हो और मालिक बनते हो?

कोई व्यक्ति ऐसा न मिलेगा जिसके साथ अनेकों की ममता न हो, तब किस बचे हुए भाग से तुम ममता करते हुए संतुष्ट हो रहे हो? जब कि अन्य लोगों ने भी उसी व्यक्ति पर अपना अधिकार मान रक्खा है जिसे कि तुम अपना मानते हो।

संत सावधान करते हैं कि तुम प्रीतिपूर्वक जिसे अपना मानो उससे अपने संकल्प की पूर्ति न चाहो क्योंकि अपना संकल्प रखकर कोई अपने प्रेमपात्र के संयोग का भोगी भले ही बने प्रेमी नहीं हो सकता। प्रेमी होने के लिये अहंता ममता का त्याग करना होता है।

जब तक मन की ममता प्रभु से नहीं होती, तब तक अहं भी प्रभुमय नहीं होता, जब तक अहं प्रभु के समर्पित नहीं होता तब तक साधक काम प्रेरित होकर कर्म करता है, राम (प्रभु) होकर कर्म नहीं करता।

संत ने यह भी सावधान किया है कि जब तक धन में और नारी में आसक्ति रहेगी, तब तक प्रभु में मन नहीं लग सकता। कामासक्त मन विक्षिप्त रहता है, अहं भोगी बना रहता है, ऐसी दशा में बुद्धियोगी होकर चित्त को शुद्ध करने पर योग सुलभ हो सकता है।

अहंकार और मन के द्वारा कर्म बन्धन बढ़ते हैं। बुद्धि और चिन्तन द्वारा बन्धन खुलते हैं।

नारी में, धन में, कामासक्त मन ही यथार्थ ज्ञान में बाधक बनता है। कामिनी और कंचन ही तो ईश्वर के स्मरण में सदा बाधक बनते हैं, इन्हीं दोनों के कारण सारी प्रीति जड़मय बनी रहती है इसीलिये संत सद्गुरु वैराग्य की प्रेरणा देते हैं।

भोगों से अर्थात् स्त्री धन से वैराग्य होने पर ही प्रभु के प्रति अनुराग बढ़ सकता है।

त्यागी, विरागी एवं प्रभु के अनुरागी को ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी प्रिय लगता ही नहीं।

सेवा में सावधान

जो सेवा में सतत सावधान है, उसके पतन का अवसर ही नहीं आता। दूरदर्शी विद्वान सेवा को ही आत्म शुद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन बनाते हैं। सेवा द्वारा ही सौभाग्य सुगठित होता है।

सुखियों को सेवा का फल सुखी संसार से मिलता है, दुखियों की सेवा का फल दीनबन्धु भगवान की ओर से मिलता है।

जो मनुष्य सम्बन्धित परिवार तथा शक्ति, सम्पत्ति, अधिकार को लेकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, वह अपने जीवन के प्रति असावधान हैं।

भोगी प्राणी मिली हुई वस्तुओं, व्यक्तियों के दासत्व में बंधा रहता है। जो सेवा करता है वह दासत्व से मुक्त होकर स्वामित्व प्राप्त करता है।

संत की सम्मति है कि यदि तुम संसार के बंधन से मुक्त होना चाहते हो तो जिस व्यक्ति से, परिवार से, जाति से, देश से तुम्हारा सम्बन्ध है, उसी की सेवा करो, जितनी कर सकते हो उतनी ही करो, भविष्य के लिये न टालो।

असावधान व्यक्ति सेवा में सफल नहीं हो पाता। सेवा का संकल्प लेकर जो आलसी है, असंयमी है, दुराचारी, दुर्व्यसनी है, जिसकी बुद्धि में विवेक नहीं है और सेव्य के प्रति प्रीति की कमी है वही असावधान है।

सेवा करने वाले सेवक में तप, व्रत, त्याग तथा सभी सद्गुण अनायास ही आ जाते हैं। जो सेवक अपने स्वामी की आज्ञा के प्रतिकूल कुछ भी नहीं करता वही सेवा में सिद्धि प्राप्त करता है।

सेवा के योग्य सुपात्र का निर्णय शास्त्र एवं गुरुजनों से ही करना चाहिये।

एक ओर सावधान रह कर स्वामी की आज्ञानुसार ही सब कुछ करना उत्तम सेवा है। दूसरी ओर अपनी आज्ञानुसार बालकों, विद्यार्थियों, रोगियों को अनुशासन में रखना हितप्रद सेवा है।

भजन

भजन बिन जीव महा दुख पावत।
अपने में ही अपने प्रभु की जब लौं शरण न आवत।।

जन्म करण के प्रकृति-चक्र में जगत वासना नचावत।
सुख के पीछे ही दुःख भोगत पुनि सुख में ललचावत।।

कबहूँ जल के जन्तु बनत जल के बिन प्राण गंवावत।
कबहूँ उड़त भ्रमर पतंग बनि अग्नि में अंग जरावत।।

कबहूँ कूकर शूकर तन धरि सड़े मांस को खावत।
कबहूँ काक गीध बक बनकर गहरी चोंच चलावत।।

कबहूँ बन्दर रीछ रूप में अपने अंग बंधावत।
कबहूँ ऊंट है दर-दर डोलत बोझा पीठ लदावत।।

बकरा है मैं मैं करि अकड़त सहसा सीस कटावत।
कबहूँ भेड़ बनि औंधे दौड़त तन के बाल मुड़ावत।।

कबहूँ गदहा बनि के रेंकत दोनों पैर कसावत।
धोबी के घर लादी लादत गिरत उठत पहुंचावत।।

कबहूँ भैंसा बनि ठेला में जुति कै मुंह फैलावत।
तपत धूप में बोझा खींचत हांफत फेन गिरावत।।

कबहूँ बैल बनत तेली के कोल्हू बंधि घुमावत।
कबहूँ जोतत हल किसान के जब लौं रिण न चुकावत।।

प्रभु करुणा करि भ्रमित जीव को नर देही में लावत।
जिस साधन से मुक्ति मिलत है गुरु द्वारा समझावत।।
जब मानव सबसे विरक्त बन प्रभु में चित्त लगावत।
पथिक परमगति प्राप्त करत नित परमानन्द मनावत।।

सन्त वचन– जब तक दूसरे को अपना मानते हो, स्वरूप को भूले हुए हो, तब तक यथार्थ विवेक नहीं है।

जो अपने लिये असावधान हैं, वह अपनी सेवायें कुछ धन लेकर, अथवा बदला लेकर या मान एवं पदाधिकार लेकर बेच दिया करते हैं।

सेवा के अभिमानी सेवक लाखों हैं पर सेवा का ज्ञान रखने वाले विवेकी कोई विरले ही मिलते हैं।

प्रायः जो त्याग विद्याभिमानी, शास्त्र के ज्ञाता पण्डितों में नहीं पाया जाता, वह त्याग गुरुविवेक से युक्त किसी सेवक में देखा जाता है। सच्चे सेवक में ही त्याग पूर्ण होने पर प्रेम की पूर्णता होती है। रागी व्यक्ति प्रेम नहीं कर पाता।

एक महात्मा कह रहे थे कि प्रेम की पूर्णता में सच्चा सेवक अपने प्रेम पात्र की त्रुटियों पर, भूलों पर ध्यान नहीं देता है, वह तो प्रेम पात्र से प्रताड़ित होने पर भी उसे प्यार करता है।

जिसके हृदय में सभी प्राणियों से प्रेम है, उसी का विशाल हृदय समझना चाहिये, परन्तु दूसरों की विशालता से अपनी लघुता दरिद्रता तो मिटती नहीं कुछ सुख भले ही मिल जाये। इसलिये प्रत्येक साधक को स्वयं सेवा का व्रत लेकर दोषों के त्यागी होकर प्रेम के द्वारा हृदय को उदार एवं विशाल बनाना चाहिये। सेवा का व्रत वही ले सकेगा जिसे परमप्रभु की कृपा से दैवी सम्पत्ति प्राप्त होगी। दैवी सम्पत्ति उसे ही मिलेगी जो अकिंचन होकर प्रभु को चाहेगा।

सावधान रहना। प्रायः अपने हित की बात, पाप पुण्य की बात, कर्तव्य अकर्तव्य की बात बुद्धि में तो बैठ जाती है, परन्तु मन तथा इन्द्रियों की आदत नहीं बदलती है। अवसर पर जो करना चाहिए, नहीं हो पाता जो न करना चाहिए वह हो जाता है। ऐसी मन की दशा में सेवा किसी विवेकी ज्ञानवान की आज्ञा में चलने का स्वभाव बना लेना बहुत ही शुभ है– ऐसा तभी सम्भव है जब श्रद्धा सुलभ हो।

सेवा करते हुए यदि अभिमान, लोभ तथा अपने मन की रुचि पूर्ति की कामना तथा ईर्ष्या, द्वेष, सुखासक्ति आदि में से कोई एक भी दोष रहेगा– तब सेवा पूर्ण नहीं हो सकती।

मैंने सुना है– आलस्य तथा शब्द, स्पर्श एवं किसी रूप में आसक्ति, स्वादिष्ट भोजन में आसक्ति, किसी वस्तु या व्यक्ति ममें आसक्ति तथा जिससे किसी को दुःख होता हो– ऐसा दुर्व्यवहार एवं प्रीति की कमी और अविवेक सेवा में बाधक है; इसलिए सावधान रहकर सेवाव्रती सज्जन अपने शरीर को परिश्रमी, मन को संयमी, बुद्धि को विवेकी, तथा हृदय को प्रीति युक्त बनाकर सभी के प्रति सदाचार बर्तते हैं।

लोभी, मोही, अभिमानी व्यक्ति सेवा नहीं कर पाता, वह सेवा की ओट में सौदा भले ही करता रहता है।

सेवा का व्रत लेकर सावधान रहना! राग द्वेष ईर्ष्या, मद, मोह, मत्सर, अभिमान, लोभ, यह सब सेवा को पूर्ण नहीं होने देते। तभी संत कहते हैं-

सकल प्रकार विकार विहाई।
मन वच कर्म करहु सेवकाई।।

सन्त सद्गुरु ने सावधान किया है कि– परम लक्ष्य की प्राप्ति में यदि कहीं रुकना नहीं चाहते हो तो अपने द्वारा होने वाले शुभ कर्मों की पूर्ति में तृप्ति न मानो।

व्यर्थ वार्ता में तथा परस्पर हास्य विनोद में समय नष्ट न करो।

किसी दुर्वासना से प्रेरित होकर उसकी पूर्ति न करो। कभी कुसंग में अथवा जिसके संग से काम, लोभ, मोह बढ़ता हो उसके संग में कदापि सुख न मानो। आराधना उपासना ध्यान में संतोष न करो। सावधान रहना सेवा तुम्हारी तभी पूर्ण हो सकती है जब श्रद्धा सात्विक हो और सुदृढ़ हो, पाप कर्मों में खरी लज्जा हो, लोकापवाद का भय रहता हो, विद्या का संचय हो, सत्कर्मों में सतत उत्साह हो, अबाध स्मृति हो। और बुद्धि बलवती, विवेकवती अर्थात् सत्य दर्शी हो।

विवेकवती बनाने में कहीं असावधान न होना। सेवा करते हुए किसी की बुराई न करना, अपमान न करना, दूसरों से आशा न रखना, दूसरों से मिलने वाले सुख में आसक्त न होना, अहंकार नहीं आने देना। सेवा करते हुये बुराई या अपमान सह लेना, जो दुःख आयें उन्हें भी सह

लेना, सहन करने से पाप कटते हैं।

भगवान बुद्ध ने सावधान किया है कि प्राप्त पुण्य की रक्षा करो। अप्राप्त पुण्य को प्राप्त करो।

पूर्व के अभ्यस्त पाप का त्याग करो, नये पापों से बचते रहो।

सावधान रहना! इन्द्रियों के द्वारा विषयों का स्पर्श जो मन को सुखद प्रतीत होता है अंत में वह निश्चित ही दु:खमय होता है। कर्तव्य पालन करते हुए उन प्रतिकूलताओं से सावधान रहना जो अपने आघात से अनेकों साधकों को विचलित कर देती हैं। ध्यान रखना! स्वामी जिसे प्यार करता है उसे रगड़ कर साफ करता है, उस रगड़ के कष्ट से तुम विचलित न हो जाना। यह सन्त का आदेश है।

सावधान रहना! जब कभी गुरुजनों की सेवा का अवसर मिले तब अपनी रुचि का पक्ष न लेकर उनसे आज्ञा लेकर ही उनकी रुचि के अनुसार ही सब कार्य करना। बड़ों की सेवा उनकी आज्ञानुसार ही करना चाहिये। छोटों की सेवा अपने विचार से करनी चाहिये।

हमें यह भी समझाया गया है कि तुम अपनी स्वेच्छा से जिसकी सेवा करो, सावधान रहो। कहीं अपनी इच्छा पूर्ति में सुख मानो। जिसकी सेवा करो, उसकी अनुकूलता पर ध्यान रखते हुए उसे संतुष्ट करो। जब अपने से छोटों की सेवा करो, तब उनके हित पर दृष्टि रखते हुए उनकी पूर्ति करो, जिससे किसी का अहित होता दीखे तब उससे अपनी विवशता स्पष्ट कर दो। किन्तु अकरणीय कार्य न करो। जब तक सेवा के बदले में कुछ भी पाने का लालच है तो मन बुद्धि चित्त तथा अहंकार की शुद्धि नहीं होगी। प्रीतिपूर्वक, निष्काम सेवा के द्वारा सभी दोष मिट जाते हैं, दैवी गुणों का विकास हो जाता है।

जब कभी साधु सन्त, तपस्वी, त्यागी पुरुष की सेवा का अवसर प्राप्त हो, तब सावधान रहना, कहीं ऐसी सेवा न करना जिससे उनकी साधना में, तपस्या में तथा उनके त्याग विराग में, संयम नियम में बाधा पड़े। इसीलिये धर्माचार्यों ने साधु सन्यासी को चांदी स्वर्ण के पात्रों में भोजन कराना तथा तमोगुणी रजोगुणी भोजन कराना, एवं मन में विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं, व्यक्तियों का संयोग उपस्थित करना पाप बताया है।

एक साधक, सेवक के यहां भोजन करने गया। श्रद्धा की उमंग में उसने चांदी का लोटा जल देने को निकाला, किसी को लालच आ गया, उसने वह लोटा ही चुरा लिया।

एक साधु को एक भक्त ने चांदी के गिलास में पानी पीने को दिया। उस साधु ने कहा, कि एक दिन पिलाने से भक्ति पूरी नहीं होगी नित्य पिलाते तो सिद्ध होता कि श्रद्धा सच्ची है। भक्त ने आवेश में आकर उसी समय वह पात्र साधु को दे दिया।

एक शिष्य को किसी भक्त ने चांदी का बड़ा कटोरा दिया, वह गुरु के समीप ले गया, गुरु ने उसे समझाया कि यह कटोरा किसी दिन तुझे शोकाकुल बनायेगा, गरीबी का अनुभव करायेगा क्योंकि यह कटोरा किसी दिन खो जायेगा- ऐसा कहकर उस कटोरे को वापस करा दिया।

एक तपस्वी महात्मा के सामने किसी भक्त ने कुछ रुपये रख दिये। महात्मा कुछ न बोले, मौन स्वीकृति मान कर श्रद्धालु चला गया। महात्मा जब साधना से उठे, तब बार-बार रुपये का चिन्तन करने लगे - कभी वह गरीबों की सहायता करने की सोचते, कभी विद्यार्थी को देने की, कभी साधुओं का भण्डारा करने की बात मन में लाते, यथार्थ निर्णय कराने के लिये वयोवृद्ध संत के समीप जाकर प्रश्न रक्खा। उस संत ने कहा कि भला चाहो तो अभी इन्हें अपने पीछे फेंक कर आगे चले जाओ किन्तु यहां न फेंकना, दूर जाकर हीं डाल दो। तभी रुपये का चिन्तन छूट कर प्रभु को चिन्तन हो सकेगा। धन के संग से तथा संग्रह से, सुखियों के संग एवं उनकी सेवाओं को स्वीकार करते रहने से साधना में कितनी बाधा पड़ती है- इसका अनुभव मुझे स्वयं बहुत समय शक्ति खो देने के पश्चात् हो सका है, इसीलिये साधक को संग दोष से सावधान रहना चाहिये। मैंने संतों से सुना है और ग्रंथों में पढ़ा भी है।

विरक्त सन्त महात्माओं को बनी हुई मिठाई, खटाई, मिर्च, प्याज तथा अधिक भारी गरिष्ठ देर से पचने वाले भोजन न कराओ, विशेषकर जो सन्त महात्मा एक स्थान में ही रहते हों उन्हें गरिष्ठ तामसी भोजन कराना उन्हें अस्वस्थ बनाता है। नित्य भ्रमण करने वाले साधु तो पचा ले जाते हैं, सब नहीं पचा पाते। जिन्हें तुम विरक्त सन्त मानते हो, त्यागी मानते हो, उनके सामने

राग लोभ उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को सेवार्थ न दो क्योंकि संग से दोष उत्पन्न होता है।

साधु सन्त महात्मा त्यागी तपस्वी की तथा ब्राह्मणों की सेवा करते हुए उनकी समयोचित आवश्यकता समझ कर उसकी पूर्ति करो।

कोई त्यागी विरक्त साधक तुम्हारे दान से यदि भोगी विलासी संग्रही बनेगा, तो तुम्हें भी पाप का भागीदार होना पड़ेगा।

किसी एकान्त में रहने वाले साधक साधु सन्यासी को अपने घरों में न ठहराओ, यदि एक दो दिन निर्वाह की समस्या हो तो घर के बाहर ठहराओ, घर के भीतर न ठहराओ। उनकी सेवा का भार बहू बेटियों को न सौंपो।

यदि किसी साधक साधु की छिपी हुई कामना वासना की पूर्ति करने को ही सेवा मानते हो तो उसकी पूर्ति होती देखकर घृणा द्वेष निन्दा रूपी अपराध से अपने को बचाते रहो।

कोई साधक साधु सन्यासी उदासी के वेष में असाधु, सुखासक्त, रागी, मोही, लोभी मिल जाये तो उससे सम्बन्ध तोड़ लो पर उसकी निन्दा रूपी पाप से बचो। आगे के लिये सावधान हो जाओ।

यह भी सन्त सम्मति है कि जिसकी सेवा करो, उसके हित में या सुख के लिये जब जो कुछ करना है, उसकी विस्मृति न होने पाये। ध्यान रखना! विस्मृति होती है किसी प्रकार की चाह उत्पन्न होने पर या फिर कहीं आसक्ति बढ़ जाने पर, या फिर किसी प्रकार का अभाव प्रतीत होने पर। अतः सावधान होकर तुम चाहों का त्याग करो। आसक्ति का त्याग करो। अभाव की ओर न देखो। अपने आप में सन्तुष्ट रहो, प्रसन्न रहो। ऐसा तभी हो सकेगा जब परमप्रभु के नाते सबकी सेवा करने में तत्पर रहोगे।

प्रीतिपूर्वक सेवा करने में सभी दैवी गुण बढ़ जाते हैं और दोष मिट जाते हैं। सेवा करते हुए जिसके दोष न मिटें उसकी सेवा में स्वार्थ छिपा हुआ समझना चाहिये। वस्तु व्यक्ति की सीमा को पार कर जितनी प्रीति बढ़ती जाती है उतनी ही सेवा की परिधि भी बढ़ती जाती है। प्रीति प्रथम कुटुम्ब में बढ़ती है पुनः समाज, जाति, देश की सीमा को पार करती हुई विश्वव्यापी बनती है।

जैसे-जैसे प्रीति विभु होती जाती है वैसे-वैसे सेवा भी विश्वव्यापी होकर विश्वनाथ तक पहुंच जाती है। सेवा की महिमा महान है।

सुखोपभोग का अंत दुःख भोग में होता है। प्रभु कृपा से मिले हुए बुद्धि योग द्वारा दुःखी साधक को दुःख निवृत्ति के साधन का ज्ञान होता है।

विषय स्पर्श में सुख मानने वाले मन द्वारा बंधन बढ़ते हैं। परिणाम दर्शी बुद्धि द्वारा बंधन कटते हैं।

एक सन्त कह रहे थे कि आसक्तियों ने ही तुम्हें पराधीन बना दिया है। तुम चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करो। इस छोटी देह में जब तक आसक्ति रहेगी तब तक अनेकों वस्तुओं, व्यक्तियों में आसक्ति बनी रहेगी। अपनी देह से निरासक्त हो जाओ तो कहीं भी आसक्ति नहीं रहेगी।

आसक्ति रहित होकर ही तुम मिली हुई देह का सेवा में सदुपयोग कर सकते हो और जो कुछ तुम्हें नहीं मिला, दूसरों को मिला है, उससे विरक्त रह सकते हो। विरक्त होकर ही प्रभु में अनुरक्त हो सकते हो। संत ने चेतावनी दी है-

कहा होत नृपहू भये ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भगति को सकल सुखन को सार।।

सेवा के बदले में जो धन चाहते हैं वह लोभी हैं, जो प्यार चाहते हैं वह मोही हैं, जो मान बड़ाई पदाधिकार चाहते हैं वह अहंकारी हैं, जो सेवा के बदले में कुछ भी नहीं चाहते, वही सच्चे प्रेमी हैं।

एक संत ने हमें सावधान किया कि –

जिसकी सेवा करो उससे ममता न करो जिससे प्रेम करो उससे कोई आशा न रक्खो। जिसके मन में ममता और कामना रहती है उसकी सेवा शुद्ध हो ही नहीं सकती।

सेवा का व्रत स्वीकार कर किसी का बुरा न चाहो, किसी का बुरा चाहते हुए, किसी की बुराई करते हुए, किसी को बुरा समझते हुए तुम सेवा व्रत की पूर्णतया निभा ही नहीं सकते।

यह भी गुरु सम्मति है कि जब कोई मूल्यवान सुन्दर वस्तु किसी को दो तब अपनी मानकर न दो प्रत्युत जिसे दे रहो रहो उसी के भाग की समझ कर दो, अपने बोझ को हल्का करने के लिये दो, किसी से तुमने कभी लिया है इसलिये तुम भी किसी को दो, देकर उससे सम्बन्ध तोड़ लो।

सन्त ने हमें समझाया है कि जिसकी सेवा करनी है उसका तुम पर अधिकार है, तभी वह सेवा लेने की स्थिति में तुम्हारे सामने आया है, उसकी सेवा करते हुए तुम्हें उसके बन्धन से मुक्त हो जाना है, इसीलिये उसे अपना नहीं मानना है प्रभु के विधान द्वारा भेजा हुआ समझना है और जिस शक्ति एवं योग्यता अथवा वस्तु द्वारा सेवा कर रहे हो उसे भी अपनी नहीं मानकर प्रभु के विधान से मिली हुई समझना है– इस प्रकार की समझ द्वारा ही तुम अभिमान तथा फल लोलुपता के लोभ मोह से रहित हो सकते हो।

सेवा करने के अभिमानी लाखों हो सकते हैं परन्तु यथार्थ सेवक कहीं विरले विवेकी प्रेमी मिलते हैं।

''चाहनहारे सुख सम्पति के, जग में मिलत घनेरे।
विरले चाह रहित सेवक हैं, नगर वगर सब हेरे।।''

श्रद्धा में सावधान

हमें यह समझाया गया है कि करोड़ों मनुष्य बलवान मिलेंगे, लाखों मनुष्य विद्वान मिलेंगे, उन लाखों विद्वानों में हजारों लखपती धनवान भी मिलेंगे परन्तु उन बलवानों विद्वानों धनवानों में श्रद्धावान कोई विरले ही मिलेंगे।

कोई मनुष्य बलवान का आश्रय ले रहा है, कोई धनवान का तथा कोई विद्वान का आश्रय लेकर संतुष्ट हो रहा है परन्तु जिसे आत्म कल्याणार्थ ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होती है वही श्रद्धालु होकर ज्ञानी गुरु की शरण लेकर वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिसके द्वारा ही संसार के बंधनों से दुःखों से मुक्ति मिलती है।

हर एक मनुष्य, बल के, धन के, विद्या के तथा सुन्दर रूप के अथवा उच्च कुल के एवं सद्‌गुणों के संयोग से प्रायः अभिमानी बनता है, केवल

श्रद्धालु ही गुरु ज्ञान के योग द्वारा अभिमान के बंधन से छूट पाता है।

श्रुति स्मृति में श्रद्धा की सर्वोपरि महिमा का वर्णन है जो श्रद्धा से रहित मनुष्य हैं वह परलोक की, कौन कहे इस लोक में ही अपना परम लाभ सिद्ध नहीं कर पाता। श्रद्धा के बिना दान अथवा तप व्रत सेवा यज्ञादि अनुष्ठान व्यर्थ ही जाते हैं। श्रद्धा से हीन मनुष्य व्यर्थ में ही नहीं अनर्थ में जीवन नष्ट करते हैं।

शास्त्रवेत्ता आचार्यों का आदेश है कि ''अपनी श्रद्धा को किसी कुतर्क से कुसंग से दोष दर्शन से कहीं खो न बैठना।'' श्रद्धा से रहित व्यक्ति महान लाभ से वंचित रह जाते हैं किन्तु श्रद्धा पाने के पश्चात उसे खो देने वाले व्यक्ति दैवी सम्पत्ति की हानि उठाते हैं।

संतों ने हमें सावधान किया है कि अपनी श्रद्धा का निरीक्षण करो। कदाचित् श्रद्धा तमोगुण से आच्छादित हो या रजोगुण से अतिरंजित हो, तो उसे गुरु उपदेशानुसार सतोगुण से सुसज्जित करो।

श्रद्धा एक दैवी निधि है जो प्रभु कृपा से ही किसी को सुलभ होती है। किसी भी अहंकारी मनुष्य के सामर्थ्य की बात नहीं है कि वह किसी को अपने से अधिक श्रेष्ठ ज्ञानी मानकर शुद्ध भाव से उसकी शरण लेकर अध्यात्म ज्ञान प्राप्त कर सके। कदाचित कोई किसी धनवान बलवान तथा विद्वान रूपवान के पीछे चलता भी है तो वह कुछ विवशता को लेकर अपने शरीर को तथा मन को एवं बुद्धि को उसके आगे झुकाता है किन्तु अहंकार को समर्पित नहीं करता।

अहंकार को समर्पित करने की क्षमता उसी मनुष्य में होती है जो श्रद्धा से युक्त होता है।

यथार्थ ज्ञान किसी श्रद्धावान को ही प्राप्त होता है। श्रद्धावान ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में तत्पर होता है और संयतेन्द्रिय होता है अर्थात् उसकी इन्द्रियां उसके वश में रहती हैं।

श्रद्धावान को ही अपना हित प्रिय होता है, वह अहितकारी सुख के त्याग में समर्थ होता है। श्रद्धालु ही गुरु के अनुशासन में रह पाता है।

उत्तम श्रद्धालु वही है जो गुरु की शरा में आत्मा अनात्मा का अर्थात् सत्य असत् का, नित्य अनित्य का, जड़ चेतन का, कर्तव्य अकर्तव्य का, 'स्व'

का 'पर' का ज्ञान प्राप्त करता है, जो सत् परमात्मा का योगी होना चाहता है। जो ज्ञान स्वरूप गुरु की उपासना करता है गुरु की हितकर आज्ञा की ही आराधना करता है। ऐसा श्रद्धालु ही उत्तम सेवक है।

मध्यम श्रद्धालु वही है जिसमें रजोगुण प्रधान हे, जो गुरु के ज्ञान स्वरूप को न जान कर उन्हें शक्ति स्वरूप मानता है, जो शाप से डरता है और वरदान पाने के अवसर खोजता है, जो चमत्कारों पर मुग्ध होता है जिसमें अभिमान एवं लोभ की प्रबलता रहती है। जो हानि से या अपमान से डरता रहता है जो कि सेवा के बदले में लाभ अथवा अधिकार की लालसा रखता है—ऐसा श्रद्धालु मध्यम कोटि का सेवक है।

निकृष्ट श्रद्धालु वह है जो गुरु की देह दर्शन से देह की सेवा से ही संतुष्ट रह कर अपने दुःख की ही चर्चा करते हुए सुख पाते रहने की आशा रखता है। जिसमें मोह की प्रबलता रहती है। पारिवारिक नाम रूपों के प्रति आसक्ति छूटती नहीं श्रद्धा होने पर गुरु के नाम रूप में आसक्ति अधिक बढ़ जाती है, राग द्वेष लोभ अभिमान वहां भी अपना काम करते रहते हैं।

हम सब साधकों को अपनी श्रद्धा में तमोगुणी और रजोगुणी अंश निकाल कर सतोगुण को ही पुष्ट रखना चाहिये।

हमें समझाया गया है कि श्रद्धा जाग्रत होने के पश्चात् अपने श्रद्धास्पद से ही उनकी सेवा का विवेक प्राप्त करो, उन्हीं से उनके सत्स्वरूप को जानकर उसी गुरु रूप की उपासना आराधना करो। जो कुछ भी अभी तक सुन-सुन कर मानते आ रहे हो, उसी के विषय में नम्रतापूर्वक प्रश्न करते हुए साधन का, साध्य का, सत असत का, धर्म अधर्म का, कर्तव्य अकर्तव्य का, जड़ चेतन का, तथा दुःख सुख के स्वरूप का, 'स्व' का 'पर' का विवेक प्राप्त करो।

अनेकों श्रद्धालुओं को मैंने देखा है जो सन्त के निकट जाकर कुछ सुनते रहने में ही सुख मानते हैं। यदि उनसे कहा भी जाता है कि कुछ पूछो! तो यही उत्तर देते हैं— आप ही कुछ सुनाइये।

कुछ श्रद्धालु ऐसे भी मिलते हैं जिन्हें अपनी सुनाते रहने में या विशेष

कथा चर्चा सुनते रहने में सन्तोष नहीं होता। वे अपने श्रद्धेय से केवल अपने स्वरूप की तथा कर्तव्य को ही समझना चाहते हैं और आज्ञानुसार ही सब कुछ करते हैं।

उत्तम कोटि के श्रद्धालु कहीं विरले ही दीखते हैं जो अपने श्रद्धेय के समक्ष अपने को पूर्णतया समर्पित किये रहते हैं। उनके जीवन में सदा ज्ञान रूपी आलोक प्रकाशित रहता है।

मनुष्य के भीतर जब अहंकार किसी के आगे झुकता है जिस किसी विशेष में दोष दर्शन नहीं होते, उसी के प्रति पूज्य भाव जाग्रत होता है— उस पूज्य भाव युक्त प्रीति को ही श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धामयी प्रीति में युक्त साधक ही श्रद्धेय की आज्ञा पालन करने में समर्थ होता है।

श्रद्धावान ही इन्द्रियों को वश में रखते हुए कर्तव्य परायणता के द्वारा यथार्थ व्रत का ज्ञान प्राप्त करता है।

जिन साधकों को शास्त्रों द्वारा धर्मनीति का विवेक नहीं है, वे श्रद्धालु शिष्य होने के अभिमानी बने रहते हैं, वे गुरु आज्ञा को महत्व नहीं देते अपने ही मन की पूर्ति करते हैं, इसीलिये उन्हें वह ज्ञान नहीं प्राप्त होता जो श्रद्धालु को होना चाहिये।

श्रद्धालु जनों को सम्यकदर्शी आचार्यों ने सावधान किया है कि तुम जिसे पूज्य मानो, जिस पर श्रद्धा हो उसकी आज्ञा लेकर ही समस्त कर्म करो, गुरु विवेक का आश्रय लेकर कर्तव्य का निर्णय करो।

गुरुजनों की सेवा करने के प्रथम सेवा का ज्ञान प्राप्त करो, सेवा करते हुए अपनी रुचि को समझो, जिसकी सेवा करो उसकी रुचि के अनुसार सेवा करो।

संतों गुरुजनों को अपनी प्रसन्नता के लिये घर चलने का, उनसे भोजन करने का, धन लेने का, वस्त्रादि लेने का आग्रह नहीं करना चाहिये। उनकी आज्ञा लेकर ही उचित व्यवस्था करनी चाहिये।

ब्राह्मणों को घर बुला कर भोजन कराना चाहिये, दक्षिणा देनी चाहिये। विरक्त सन्त महात्मा अतिथि रूप में जब कभी स्वयं द्वार पर आ जायें तब उनके अनुकूल सतोगुणी भोजन भिक्षा में देना चाहिये, अपनी रुचिपूर्ति का पक्ष

नहीं लेना चाहिये।

किसी भी सन्त के प्रति बालक-बालिका, युवक-युवती अशिक्षित प्रौढ़ या वृद्ध सब अपनी-अपनी मति के अनुसार श्रद्धा रखते हैं और अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार गति सद्गति होती है।

हर एक व्यक्ति किसी न किसी श्रद्धेय सन्त महात्मा के प्रति श्रद्धा तो रखता है परन्तु सावधान होकर अपनी श्रद्धा का निरीक्षण नहीं कर पाता।

जबकि श्रद्धा केवल भगवान के ज्ञान स्वरूप के प्रति, सद्गुणों के प्रति, निष्काम प्रेम के प्रति, निरंतर प्राप्त परमात्मा के प्रति होनी चाहिये। परन्तु ऐसा न होकर कोई सन्त के शरीर पर मोहिता होता है, कोई विशेष चमत्कार से आकर्षित होता है, किसी के मन में संत का सुन्दर रूप भर जाता है, कोई सन्त की विद्वता से विशेषकर जो महात्मा एम.ए. उत्तीर्ण हों अथवा कोई पदाधिकारी रहे हों अथवा उनकी विशेष जन प्रसिद्धि से प्रभावित हो जाता है। कोई श्रद्धालु किसी संत से इसलिये श्रद्धा करते हैं कि वह सौ वर्ष से अधिक आयु के हैं। कोई उसी संत में श्रद्धा करते हैं जिनके बहुत बड़ा आश्रम है, सैकड़ों शिष्य हैं।

साधु महात्मा गुरु माने जाने वाले श्रद्धेय जन भी कोई तमोगुण प्रधान, कोई रजोगुण प्रधान, कोई सतोगुण प्रधान प्रकृति के हुआ करते हैं। इसीलिये श्रद्धालु भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार श्रद्धेय भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार श्रद्धेय का निर्णय करते हैं।

सब अपनी-अपनी घात से सम्बन्ध जोड़ते हैं। जब तक किसी से धन की चाह, सुखोपभोग की चाह तथा मान की चाह रहती है, तब तक यथार्थदर्शी दृष्टि नहीं होती। बना हुआ महात्मा गुरु अपने शिष्य को नहीं पहिचान पाता और बना हुआ शिष्य सेवक भी अपने श्रद्धेय गुरु को नहीं समझ पाता। परस्पर शिष्य गुरु को और गुरु शिष्य को अपनी-अपनी कामना पूर्ति का साधन बना कर भोग में अटके रहते हैं, योग को सिद्ध नहीं कर पाते।

कोई विरले ही बुद्धिमान विद्वान साधक मिलते हैं जो सावधान रहकर संत महात्मा की देह में उनकी वाणी के माधुर्य में तथा उनके वैभव ऐश्वर्य में न अटक कर केवल ज्ञान स्वरूप गुरु की उपासना करते हैं।

सावधान रहना! जब कभी साधु सन्त भक्त के प्रति दुर्भाव उत्पन्न

होने लगे तब समझ लेना कि आसुरी शक्तियां विघ्न डाल रही हैं। देवता सहायक होंगे तभी घृणा, द्वेष, कलह, क्रोध, निन्दा आदि दुर्भावों से बच सकोगे।

बार-बार संतों ने सावधान किया है कि अपनी उन्नति सद्गति के लिये कायर, कपटी, क्रूर, कठोर, कृपण न बनो। यथार्थ मानव बनो। अपने बड़े से बडे शत्रु के प्रति भी सुन्दर शिष्टाचार उपकारी शब्दों का प्रयोग करो।

मोहवश पक्षपाती होने में अनेकों बुराइयां बढ़ती हैं। अहंकार ईर्ष्या से सावधान रहो।

कभी-कभी इस चौपाई को दुहरा लिया करो, जप कर लिया करो–

सीय राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

अथवा इस मन्त्र का मनन कर लिया करो–

सर्व रूप मयी देवी सर्व देवी मयं जगत्।
अतोऽहं विश्व रूपां तां नमामि परमेश्वरीम्।।

देवी सर्व रूप मयी है तथा सम्पूर्ण जगत देवी मय है। अतः मैं उन विश्वरूपा परमेश्वरी को नमस्कार करता हूँ।

प्रार्थना

सर्व विघ्न नाशक भगवान...
कृपा करो हे कृपा निधान।।

सर्व विघ्न नाशक भगवान, कृपा करो हे कृपा निधान।।

मेरी क्षुद्र वासना क्षय होख मेरा चित्त तुम्हीं में लय हो।
मुझ में कुछ न रहे अभिमान, कृपा करो हे कृपा निधान।।

नाथ तुम्हारी शरणागत हम, निभा सकें अपने सत व्रत हम।
हो जाये मेरा कल्याण, कृपा करो हे कृपा निधान।।

कहीं न प्रभु अब दीन रहें हम, स्वतंत्र सत्याधीन रहें हम।
दे दो बुद्धि योग सद्ज्ञान, कृपा करो हे कृपा निधान।।

मेरे नाथ शक्ति दाता तुम, अपनी विनय भक्ति दाता तुम।
तुम पावन मैं पतित महान, कृपा करो हे कृपा निधान।।

किसी भाँति तुमको पा जायें, मिट जायें पथ की बाधायें।
यही 'पथिक' का सविनय गान, कृपा करो हे कृपा निधान।।

साधना मय जीवन में कर्तव्य

यह सच है त्याग प्रेम को ही, जीवन में पूर्ण बनाना है।।
इस राग द्वेष की सीमा को, जैसे हो तोड़ मिटाना है।।

जब तक हम रागी द्वेषी हैं, इस जग से हुआ विराग नहीं।
जब तक अन्तर में भेदभाव, तब समतामय अनुराग नहीं।
चिन्ता भय को आस्तिक जीवन में, मिलता कोई भाग नहीं।
जब तक कि ममता अहंता है, तब तक हो पाया त्याग नहीं।
अब आत्म निरीक्षण करके, सब दोषों को दूर हटाना है।।

अपना हित तभी हो सकेगा, जब मान भोग की चाह न हो।
सेवा से आत्म शुद्धि होगी, जब सुख दुख की परवाह न हो।
तब सुलभ परम गति होगी, वासना रोकती राह न हो।
बाधायें हटती जायेंगी, जब कहीं शिथिल उत्साह न हो।
जो कुछ भी शक्ति प्राप्त हमको, अब सदुपयोग में लाना है।।

चाहते यही हम सब प्राणी, आनन्द प्राप्त हो जीवन में।
यद्पि हम खोज रहे इसको, विषयोपभोग वैभव धन में।
थक कर फिर कभी झाँकते हैं, गिर गुहा सिन्धु तट में बन में।
जब तक अपूर्णता दीखती है, तब तक है चैन नहीं मन में।
पूर्णता सत्य में दीखती है, हमने असत्य में माना है।।

त्याग की पूर्णता में न रहेगा अहं और मम का बन्धन।
फिर असंगता ही हो जायगी नित्य मुक्ति का शुचि साधन।
प्रेम की पूर्णता होते ही सर्वमय मिलेंगे आनन्दधन।
जड़ चित् चिन्मय हो जायेगा, योगी होगाख यह भोगी मन।